ट्रैक्ट नम्बर १०८

❀ वन्दे जिनवरम् ❀

श्री
जिन शासन का रहस्य

लेखक—
श्रीमान् न्यायाचार्य तर्करत्न न्यायदिवाकर
सिद्धान्तमहोदधि प० माणिकचन्द्रजी
(प्रधानाध्यापक) श्रीजम्बू
विद्यालय सहारनपुर

प्रकाशक—
मंत्री-जैनमित्र मंडल धर्मपुरा देहली
वीर निर्वाण सम्वत् २४६४

प्रथमबार १०००] सन १९३८ [मूल्य =)

प्रकाशक—
मन्त्री जैनमित्र-मण्डल
धर्मपुरा देहली।

मुद्रक—
नेशनल प्रिंटिंग एन्ड
पब्लिशिंग हाउस
बल्लीमारान देहली।

भूमिका
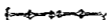
श्रीमान् न्यायाचार्य प० माणिकचन्द्र जी के नाम से समस्त जैन समाज परिचित है। आप न्याय और जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं। जैनसमाज में उच्चकोटि के विद्वानों में आपकी गिनती होती है। आप 'तर्करत्न' 'न्याय दिवाकर' 'सिद्धान्त महोदधि' और 'विद्या वारिधि' की विद्वत्ता सूचक उपाधियों से विभूषित हैं आपने "श्री जिन शासन का रहस्य" नामक ट्रेक्ट जैन मित्र मडल देहली के लिये लिखकर हिन्दी लिखे पढे जैनों और अजैनों पर बडी कृपा की है। जिन शासन पर जैन साहित्य मे हजारों प्राचीन ग्रथ विद्यमान हैं पर उनको पढ़ने तथा समझने के लिए साधारण जनता के पास न ज्ञान है और न समय। ऐसे महानुभावों के लिए यह ट्रेक्ट बड़ा ही उपयोगी प्रमाणित होगा। इस के विचार पूर्वक अध्ययन तथा मनन से जैन शासन के रहस्य की कुछ झलक पाठकों को मिल जायगी और उन्हें मालूम हो जायगा कि जिन शासन कितना महान, उदार तथा कल्याणकारी है। आपने धर्म साधन की जल्-

रत सम्यग्दर्शन, जन शासन, जैन धर्म की उदारता सम्यग्ज्ञान, अनेकांत आदि सभी विषयों को संक्षेप में समझाने की कोशिश की है। इसके बारे में मैं अधिक कुछ न लिखकर यही प्रार्थना करूंगा कि आप इस ट्रेक्ट को पढ़ कर स्वयं लाभ उठावें और जनता में इस का प्रचार करें।

रुपाड़ी बाज़ार,
अम्बाला छावनी
चैत्र बदी सप्तमी
वीर निर्वाण सम्वत् २४६४

माईदयाल जैन,
बी० ए० (आनर्स) बी० टी०

दो शब्द

श्रीमान् प० माणिक्चन्द जी न्यायाचार्य सहारनपुर समाज के सुप्रसिद्ध धुरन्धर विद्वान् हैं। आपकी विद्वत्ता व विवेचन शैली अत्यन्त उच्चकोटि की है। आप मण्डल पर सदा से कृपा दृष्टि रखते आये हैं। हमारी बहुत समय से इच्छा थी कि पण्डित जी द्वारा लिखित किसी पुस्तक को मण्डल द्वारा प्रकाशित करा कर समाज के सामने रक्खें। हमे प्रसन्नता है कि अनेक झंझटों के रहते हुए भी पण्डित जी ने हमारी प्रार्थना पर ध्यान देकर यह 'श्री जिन शासन का रहस्य' नामक पुस्तक लिखने की कृपा की है। इसके लिये हम पण्डित जी के अत्यन्त आभारी हैं तथा आशा करते हैं कि आप भविष्य में भी इसी प्रकार कृपा करते रहेंगे।

साथ ही हम साहित्यरत्न प० हीरालाल जी जैन 'कौशल' शास्त्री न्यायतीर्थ सुप्रिन्टेन्टेन्ट जैन अनाथाश्रम देहली के भी अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक का सम्पादन व प्रूफ संशोधन करने की कृपा की है। आप सुयोग्य विद्वान् हैं तथा

मण्डल के कार्यों में हमेशा सहायता देते रहते हैं। मण्डल को आपसे अनेक आशायें हैं।

प्रस्तुत पुस्तक जैनधर्म का सार है। इसमें बड़ी उत्तमता से जैन सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। हमें आशा है कि जनता इसे पढ़कर तथा मनन करके पूर्ण लाभ उठावेगा।

२१ मार्च १९३८ निवेदक —

उमरावसिंह जैन

प्रधानमन्त्री, जैन मित्र मण्डल,

धर्मपुरा देहली।

श्री

जिन शासन का रहस्य

अक्षात्मापेक्षमक्षेन्द्रियहृदयदयोपेक्षमक्ष्णोति साक्षात् ।
कालक्षेत्रस्थभावानविनियतपदार्थाश्च त्रिधानभीक्ष्णम्
प्रत्यक्ष द्वादशाङ्गाध्ययनपटुसमाकाङ्क्षणीयं स्वतुल्यम् ।
कैवल्याखिल्यधर्मोपहितनिपयनितयाप्तयेस्तान्मुमुक्षो' ॥

स्याद्वाददीधितिसहस्रनिरस्तमिथ्या
वादत्रिषष्ठिमहितत्रिशतीतमिस्र. ।
निर्दोषवृत्तमहितो जिनपस्य जीयाद्
विश्वप्रबोधतरणिर्जगदेकमित्रम् ॥२॥

ध्वस्तमोहातमालोकालोकभासकचिन्महाः ।
प्रबोधयेन्मनः पद्मं श्रीमान् मे जिनभास्करः ॥३॥

कषाययोद्धमोहारि सम्राज निजघान यः ।
रत्नत्रयायुधैः पार्श्वः स मे पापानि कृन्ततु ॥४॥

इस अनाद्यनन्त संसार मे अनन्तानन्त जीव तत्त्वबोध के बिना अनेक दु खों से पीडित हो रहे हैं। उनमे असख्य प्राणी तो गृहीत मिथ्यात्व के वशीभूत होकर युक्त्यनुभव से शून्य, कोरे वाग्जाल में फसकर सदागम सूर्य प्रकाश के रहते हुए भी दुरन्त घ गर्त म गिरते चले जा रहे हैं। सम्पूर्ण जीवों को ससार व्याधि से छुडाकर उत्तम सुख म धारण कराने का लक्ष्य कर ही सनातन जैन धम के तत्त्वों का ज्ञान भी अर्हन्त देव की द्वादशाग मय वाणी से जागरूक हो रहा है। यह धर्म जागृति किसी विशेष युग में ही नहीं किन्तु अनादि काल स मोक्ष माग का उपदेश देने वाले अनन्त तीर्थङ्करों द्वारा अभी तक धारा प्रवाह रूप से चली आ रही है और इसी प्रकार स अनन्त काल तक सुसगठित रहेगी। इसके द्वारा ही जीवों के अन्तस्तल में छिपा हुआ वस्तु का स्वाभाविक स्वरूप समय २ पर प्रगट होता रहता है। अनन्त पुरुषार्थी भव्य जावों ने श्री तीर्थङ्कर भगवान् के उपदेश द्वारा कैवल्य और नि श्रेयस प्राप्त किया है। वर्तमान अवसर्पिणी काल सम्बन्धी चौबीसवें तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी ने पूर्वजन्म म उपार्जित तत्त्वज्ञान और तीर्थकरत्व के प्रभाव स वैराग्य प्राप्त कर जनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की तथा विविध तपस्याओ के द्वारा पौद्गलिक दुष्कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञता प्राप्त कर अनेक भव्य जीवों को सम्पूर्ण पदार्थों का प्रतिभास करने वाला द्वादशाङ्ग श्रुत ज्ञानमय उपदेश दिया। उस दिव्य उपदेश म अनन्तानन्त प्रमेय भरा हुआ है। सर्वोत्तम वचन वही होता है जो कि ससार के दुःखों स छुडा कर जीवो को मोक्ष सुख म विराजमान कर दे।

सम्पूर्ण आस्तिकों के यहां कर्मबन्ध से छुटकारा पाकर जीव की स्वाभाविक अवस्था प्राप्ति को मोक्ष माना गया है। अतः उस मोक्ष को साक्षात या परम्परा से प्राप्त करने के लिये हम आप सब को कटिबद्ध होना चाहिये।

यद्यपि मोक्ष का साक्षात् साधन तो उपादान कारण शुद्ध आत्मा की पूजा या आत्मा का उपादानमय हो जाना है, फिर भी व्यवहार दृष्टि से श्रावकों के लिये देव, शास्त्र, गुरु इन तीन निमित्त कारणों की पूजा करना ही आवश्यक है उपादान की पूजा का पद बहुत दूर है जो कि इस पञ्चम काल में हमारे लिये दुःशक्य है।

आज कल उस निश्चय मार्ग के आचरण की कोरी डींग मारने वाले मानव व्यवहारचारित्र से भी गिर पड़ते हैं। यह दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने के दृश्य का अभिनय करना और भी उपहासास्पद है

अपने अन्तरग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की प्राप्ति हो जाने रूप मुक्ति को प्राप्त करने के लिए उसके निमित्त कारण हो रहे बहिरङ्ग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की शरण पकड़ना अनिवार्य होकर आवश्यक है।

परमपूज्य पचपरमेष्ठी महराज, जिन प्रतिमा, जिनवाणी व जिन मन्दिर य सब मोक्षोपयोगी बहिरङ्ग द्रव्य हैं। सम्मेदाचल, गिरनार, चपापुर पावापुर, सोनागिरि, सिद्धवर कूट, बड़वानी पावागिरि, आदि मुक्तिस्थान तो क्षेत्र हैं। चतुर्दशी, अष्टमी, अष्टाह्निक पर्व, दशलक्षण पर्व, ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के पचकल्याणक दिन ये काल माने गये हैं। जिनधर्म या रत्नत्रय अथवा क्षमा ब्रह्मचर्यादि स्वरूप परिणतियाँ एव राग द्वेष की

हीनता से हुई आत्मविशुद्धिया ये सब मुमुक्षु के लिए उपयोगी हो रहे भाव गिनाये गये हैं।

आत्मा की शुभ या शुद्ध परिणति में यों निमित्त कारण हो रहीं कतिपय द्रव्य क्षेत्र आदि की शक्तियां तो अनादि अनन्त हैं। जैसे कि सम्मेद शिखर, चौदस, अष्टमी नन्दीश्वर पर्व हैं। इनमें आत्मा को विशुद्धि प्राप्त करा देने की नैमित्तिक शक्तियाँ सर्वदा जाज्वल्यमान चली आरही हैं।

अष्टमी, चतुर्दशी या दशलक्षण पर्वों म जो व्रतपालन किया जायगा वह कोटि गुणा फलित हो कर वीतरागविज्ञान भावों का सपादक बनेगा और कैलाश पर्वत, सोनागिर, पावागिरि आदि तीर्थों की शक्तियां या कल्याण दिवसों की व्यवहारिक कालिक शक्तियाँ अधिक स अधिक एक कोटाकोटि सागर कालतक टिक पाती हैं पश्चात् अल्पशक्तिक होकर क्षीण हो जाती हैं।

इस अवसर्पिणी काल सम्बन्धी एक कोटाकोटी सागर के चतुर्थकाल म यहा भारत क्षेत्र स भी असख्याते मुनि मोक्ष जा चुके हैं सभव है कि अगर बम्बई, कलकत्ता, आपक ग्राम, बगीचा, घर आदि सभी स्थानों स मुनिवरों ने मुक्ति प्राप्त की हो किन्तु सोनागिरि, पावागिरि, गजपथा आदि स्थानों पर स विशिष्ट अवस्था म घोर साहसी तपस्वियों न मुक्ति प्राप्त की है। तथा असख्य वर्षो से हम इन तान निर्वाण काण्ड में कहे गये स्थानों को उसी रूप से वैराग्य भूमि बना रहने देने में समर्थ हो सके हैं। अत इन स्थानों म विशेष अतिशय है। भाइयो! अनादि काल

का आदर करने से हम सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं। निमित्त द्वारा बिगड़ा हुआ रोग उनके विरुद्ध निमित्तों के प्रयोग से ही दूर हो सकेगा।

जिनेन्द्र पूजन, जिन दर्शन, अभिषेक, तीर्थयात्रा, बिम्बप्रतिष्ठित करना, जिन चैत्यालय बनवाना ये सब नित्य पूजा में ही गर्भित हैं। नित्य पूजा, स्वाध्याय, पात्र दानादि आवश्यक क्रियाओं के लिए ही गृहस्थ वाणिज्य आदि वृत्तियों द्वारा उत्साह सहित द्रव्योपार्जन करता है। ऐसा सर्वज्ञ प्रणीत आम्नाय प्राप्त श्रावकाचारों में वर्णन है। भोग, उपभोग, विवाह, भूषण, गृहनिर्माण आदि का ही मुख्य उद्देश्य रखकर धन कमाना प्रशस्त मार्ग नहीं है।

वस्तुत विचारा जाय तो यह बात हृदय मे जम जाती है कि धर्म कार्यो मे जो पैसा, समय, और पुरुषार्थ खर्च होते हैं वे ही सफल हैं। अन्य कमाई कालयापन और आत्मपरिणतिया तो केवल कर्मों के उदय स हो रहीं अग्रिम दुष्कर्मों के बन्ध की कारण है।

वर्तमान काल मे बहु भाग मनुष्यों का द्रव्य कर्म बन्ध के कारणों में व्यय हो रहा है अनेकानेक जीव व्यर्थ पापक्रियाओं में कालयापन कर रहे हैं मनुष्य जन्म की दुर्लभता का विचार करते हुए यह अनाप सनाप व्यय धार्मिक पुरुषों को बहुत खटकने की बात है।

अतः जहा तक हो आप न्याय पूर्वक कमाई का स्वपर कल्याण

करने में ही उपयोग करना चाहिये। अच्छे विचारों या शुभ कर्मों में जो समय बीतता है वह भाग्यवानों के लिए शुभ अवसर है।

जिन पूजन, क्षमाधारण, ब्रह्मचर्य पालन, परोपकार आदि धर्म कार्यों के अनुष्ठान में तत्कालीन सुख अनुभव हो रहा है। भविष्य मे भोग भूमि अथवा स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति के निदान अनुसार जो धर्म सेवन करते है वे धर्म का मर्म नहीं जानते जो इस समय मधुर नहीं है वह भविष्य मे मीठा होगा इसका क्या प्रमाण? जो मुनिमहाराज शुद्ध आत्मा के अनुपम अनुभव रस का आनन्द ले रहे हैं। भले ही उनको समाधि मरण कर वैमानिक देव पर्याय बिना चाही धारण करनी पड़े और स्वर्ग मे असख्य द्रव्य तथा सैंकड़ो देवियों का पति बनना पड़े किंतु साथ में गुणस्थान की ध्यान निमग्न अवस्था का अलौकिक आनन्द वहाँ स्वर्ग मे कहा धरा है?

मैं तो कहता हूँ कि शुद्ध भक्ति भावों से जिन पूजन करने वाले को तत्काल विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है। इसी प्रकार क्षमा और ब्रह्मचर्य धारने मे जो गम्भीर रस का आस्वादन कर चुके हैं वह अन्यत्र प्राप्य नहीं है।

माता अपने नन्हें बच्चे को अनेक परीषह सहकर पालती है। वह इस लिये नहीं कि यह मेरा लड़का भविष्य में कमाई कर मुझे सुखी बनायेगा या मेरा यश बढायेगा यदि ऐसा होता तो गाय या बदरिया अपने बच्चे को कभी इतनी ममता पूर्वक नहीं पालती। अत कहना पड़ता है कि बच्चे का पालना माता को तत्का-

लीन रत्नीपन के आनन्द का समुत्पादक है। इसी प्रकार व्रतधारण, समिति पालन कषायनिग्रह और इंद्रिय संयम का आचरण करता हुआ प्राणी ऐसे अनुपम सुख समुद्र में गर्क होजाता है कि उसको परीषह या उपसर्गों की वेदना का अनुभव ही नहीं होने पाता है "दुःखमेव वा" इस सूत्र अनुसार हिंसा, झूठ आदिक जैसे दुःख स्वरूप ही बताये गये हैं भले ही हिंसा आदिक दु ख के कारण हों किन्तु वे तत्काल दु ख स्वरूप भी हैं यह कहना युक्तिपूर्ण जचता है।

इसी प्रकार जिनार्चा, मुनिदान, उपवास, क्षमा आदि कृत्यमी सुखसरूप ही कहने पड़ते हैं। धर्म पालन से सुख होता है इस वाक्य से धर्म पालना सुख स्वरूप ही है यह शब्द बड़ा सुन्दर भास रहा है।

सुख गुण की विभावपरिणति दुःख और लौकिक सुख है। हिंसा, झूठ आदि तो चारित्र गुण के विभाव परिणाम हैं अत दु ख के कारण होनसे हिंसादिकों में दु ख पान का उपचार किया गया है। वस्तुत विचारा जाय तो आत्मा के सभी गुण और पर्यायें एक दूसर से मिलकर तदात्मक पिण्ड हो रहे हैं। इस कारण चारित्रगुण की क्षमा, ब्रह्मचर्य, जिनपूजन संयमपालन आदि शुभ परिणतिया सब सुखरूप ही अनुभव में आरहीं हैं।

परमार्थ रूप से देखा जाय वा स्वाध्याय, जाप्य, सामायिक, ध्यान य ही आत्मा के पुरुषार्थ हैं। मोही जीव न खेलना, कूदना, कमाना, गप्पें मारना आदि को पुरुषार्थ मान रक्खा है यह मोह की

विडम्बना है। शास्त्रों मे पुरुषार्थ के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार भेद किये गये है।

मैं कह चुका हूँ कि धर्मसेवन तो तत्कालीन आनन्दमय हो रहा पुरुष अर्थात आत्मा का अर्थ यानी प्रयत्नजन्य शुभ कर्तव्य है ही और धार्मिक कार्यों के लिये न्याय पूर्वक धन उपार्जन करना अर्थ पुरुषार्थ है। उस धन से गौणरूपेण आनुसंगिक लौकिक कार्य भी भले ही साध लिये जाँय किन्तु मुख्य लक्ष्य यही है। कुटुम्बियों या चोर डाकुओं के लिये इस मात्र पापास्रव को करने वाले धन के उपार्जन में चौबीसों घन्टे लगे रहना तीव्र परिग्रह कहलाता है अर्थ पुरुषार्थ नहीं।

काम पुरुषार्थ तो धर्म अर्थ से भी बढ़िया है न्यायपूर्वक इन्द्रियों के भोग, उपभोगों को भोगकर उनकी तह पर पहुचते हुए वैराग्य सम्पादन करना कामपुरुषार्थ माना गया है। सागारधमामृत में महा विद्वान आशाधर जी ने कहा है —

विषयेषु सुखभ्रांतिं, कर्माभिमुखपाकजाम्।
छित्वा तदुपभोगेन, त्याजयेत्तान् स्ववत्परम्॥

भोगों को नीतिमार्ग अनुसार भोगकर जो ठोस वैराग्य प्राप्त होता है वह भोगों को भोगे विना दरिद्र जन के भाग्य में नहीं होता है।

वारिषेण और पुष्पडाल इसके दृष्टान्त हैं। वस्तुत केले के थम्भे समान नि सार भोगों को भोगकर तत्वज्ञानी को वैराग्य हुए विना नहीं रहता है। करोडों नर नारियों के सन्मुख सीता ने जो अग्निपरिक्षा मे उत्तीर्णता प्राप्त की उससे बढकर

लौकिक काम पुरुपार्थ और क्या हो सक्ता है ? उस पुरुषार्थ का फल सीता को वैराग्य की प्राप्ति हो जाना प्रसिद्ध है।

छोटी सी शास्त्रीय परीक्षा या बी० ए०, एम० ए० परीक्षा पास कर लेने मात्र से ही छात्र अपने को कृतकृत्य हो जाना मानते हैं कतिपय छात्र तो असभ्यता और पापाचार से विरक्त हो जाते हैं। अग्निपरीक्षा को पास कर लेने पर सीता को सबसे बड़ा बड़ा लौकिक आनन्द प्राप्त होगया उसका फल इतना उत्कट वैराग्य हुआ कि रामचन्द्रजी द्वारा अनेक प्रार्थनायें किये जाने पर भी सीताजी ने पुन पापपङ्काकीर्ण गृहजजाल में प्रवेश करना उचित नहीं समझा झटस आर्यिकादीक्षा ग्रहण करली।

इसी प्रकार बाहुबली महाराज ने दृष्टियुद्ध और जल युद्ध में भरत चक्रवर्ती को परास्त कर दिया था तभी से काम पुरुषार्थ का सेवन प्रारम्भ होगया था किन्तु जब उन्होंने कई खराब पुरुषों के सन्मुख अखाड़े में मल्लयुद्ध द्वारा चक्रवर्त्ती स विजय प्राप्त की थी उस अवसर की विजय प्रसिद्धि तो बस लौकिक आनन्द की हद है इससे बढ़कर काम पुरुषार्थ दूसरा क्या हो सकता है ?

छः खडों म जितने मनुष्य निवास करते हैं उन सब की शक्ति के बराबर एक चक्रवर्ती की शक्ति मानी गयी है। अनेक चक्रव र्तियों की ताक्त एक सामान्यदेव मे होती है और असख्य देवों की शक्ति के बराबर एक इन्द्र का पराक्रम है। इन्द्र को भी पछाड़ देने का बल एक ऋद्धिधारी मुनीश्वर म है। तीर्थंकर महाराज के अनन्त बल का अनु

मान इसी से लगाया जा सकता है कि वे तीनों लोकों को ढेले के समान चाहे जितना अनन्त (रान) दूर तक अलोकाकाश मे फेंक सकते हैं, यह कार्य "न भूतो न भावी न वा वर्तमान" परन्तु सम्भावनासत्य है।

प्रकरण मे यह कहना है कि छोटे से पहलवान को मात्र दो चार सौ मनुष्यों मे एक लघु मल्ल से युद्ध मे विजय प्राप्त हो जाने पर इतना उल्लास प्राप्त होता है कि वह हर्ष के मारे फूल कर कुप्पा हो जाता है, और अपने इष्ट बन्धुओं की गोद में उछलता कूदता फिरता है। इसी त्रैराशिक से बाहुबली के मल्लयुद्ध सम्बन्धी विजय के परमोत्कृष्ट लौकिक आनन्द का फल निकाल लीजिये। इस काम पुरुषार्थ का फल इतना उत्कट वैराग्य हुआ कि राजपद्धति के अनुसार स्वपुत्र को राजपद पर प्रतिष्ठित करने का अवसर भी नहीं निकाल कर उन्हाने तत्काल भोगों से उदासीन होकर श्री आदीश्वर महाराज के पास जिनदीक्षा धारण करली।

अत भोगा का फल उपेक्षा भाव या वैराग्य माना जाय तो आश्चर्य नहीं है। तभी सम्यग्दृष्टि के भोगों को कर्मों की निर्जरा का कारण कहा गया है। भोगों मे अति आशक्ति करने वालों की प्रवृत्ति तो बन्ध का ही कारण है।

क्षायिक स्वभाविक गुणों की प्राप्ति हो जाने स्वरूप मोक्ष में तो आत्मा को भारी पुरुषार्थ करना पड़ता है। शरीर के अवयव या धातु, उपधातु, अथवा मलमूत्र कहीं भी गिर न पड़े यों उनको डाटे रहने के लिये हम आप सब को प्रतिक्षण प्रयत्न करना जरूरी

है। अम्हाई लेना, छींस्लेना, सोजाना, अगड़ाई लेना, दौड़ना, खाना, खासना, रोना ये सब प्रयत्न विशेष हैं। द्रव्य की अर्थ क्रियाओं को कहाँ तक गिनाया जाय जीव की करतूतों को पुरु षार्थ कह दिया जाता है।

छोटे बालक का मूत्र रोके रहने और मरते हुये पुरुष का निष्ठा रोके रहने का पुरुषार्थ जब फेल हो जाता है तो उनके मल-मूत्र स्खलित हो जाते हैं। तथैव स्वकीय अनन्त गुणों और स्वभाविक परिणतियों को स्थिर रखने के लिये मुक्त जीव को इच्छा बिना ही सतत परम पुरुषार्थ करना पड़ता है।

कर्मों का क्षय करने के लिये मुनि महाराज को भारी पुरु-षार्थ करना पड़ता है। सोती अवस्था मे आत्मा को शरीर प्रकृति द्वारा रक्त मांस बनाने और उनको ठीक ठीक स्थान पर पहुँचाने, मलमूत्र बनाने, श्रम दूर करने आदि के लिये जो पुरुषार्थ करने पड़ते हैं वे जगती हुई अवस्था के किसी भी बड़े पुरुषार्थ से कम नहीं हैं। इसी प्रकार समहणी या धातु क्षय रोग वाले पुरुष को शारीरिक धातु उपधातुओं का मल बनाने में या हड्डियों के भीतर हजारों छेद करने में भारी प्रयत्न करना पड़ता है। सन्निपात वाला रोगी भले ही बाहर से बे होश दीख रहा हो किन्तु शरीर के अन्दर उसको विशेष प्रयत्न करने पड़ रहे हैं।

आत्मा के व्यक्त स्वसंवेद्य पुरुषार्थ से स्वल्प कार्य होते हैं हाँ अव्यक्त अस्वसंवद्य पुरुषार्थों स असख्य कार्य बनाये जा रहे हैं। शरीर को गरम बनाये रखना, अन्न या जल का रक्त, माँस, हड्डी आदि बनाना छोट प्रयत्न नहीं हैं। गेंडुआ मिट्टी को खाकर उस

का मांस बना लेता है, क्या कोई वैज्ञानिक पुद्गल के प्रयोगों से हड्डी, माँस बना सकता है ? कभी नहीं, जिस हड्डी, माँस को छोटे छोटे कीट पतग सहज में बना डालते हैं।

कोई भी लुहार मूल लोहे को नहीं बनाता है, सुनार सोने को नहीं रचता है, कोई भी बढ़ई काठ को तैयार नहीं कर सकता है, केवल ठोकने छीलने पीटने मात्र से उनका नाम अयास्कार (लोहार) सुवर्णकार तथा काष्ठकार कह दिया जाता है। वस्तुत लोहे, सोने, काठ को खान या खेत के एकेन्द्रीय जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा बनाया करते हैं।

परमार्थ रूप से विचारा जाय तो उक्त कोशिश को पुरुषार्थ कहना लज्जास्पद है । अनन्तानुबन्धी का विसयोजन करना, क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण करना तथा उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी के घोर प्रयत्न व बड़े भारी पुरुषार्थ हैं। तभी इन कार्यों के कर लने पर आत्मा को बीच-बीच मे विश्राम लना पड़ता है ऐसा श्री गोम्मटसार में कहा है।

श्री अकलक देव ने राजवार्तिक मे भी कर्मों का क्षय करना विशेष यत्न से साध्य होने वाला कार्य बताया है। चौथे, पाँचवें, छठ गुणस्थान वाले जीवों के स्वरूपाचरण, देवदर्शन, जिनेन्द्र-पूजन, स्वाध्याय, ध्यान ये भी सब बुद्धिपूर्वक किये गये—पुरुषार्थ हैं। यों तो टट्टी जाने, पेशाब करन, हाथ उठाने, कुश्ती लड़ने आदि में भी आत्मा को पुरुषार्थ करने पड़ते हैं किन्तु अध्ययन, अनुप्रेक्षायें, सामायिकक्षायकश्रेणी । अपूर्वकरण, उपशमश्रेणी, और मोक्ष के पुरुषार्थ उत्तरोत्तर बढ़े चढ़े हैं।

शुक्लध्यान अवस्था में नयज्ञान प्रवर्तते हैं, मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवल ज्ञान इन पांच ज्ञानों मे केवल श्रुतज्ञान विचारशाली है अन्य' चारों ज्ञान अविचारक हैं । आत्मा की विचार अवस्था श्रुतज्ञान है । श्रुतज्ञान के अंश हो— रहे नयज्ञान हैं। तभी तो सम्यग्ज्ञान की पूजा में अष्टाङ्ग श्रुतज्ञान को ही अर्घ्य चढाते है। नित्य पूजा में भी द्वादशाँग श्रुतज्ञान के गुण गाये गये हैं । आचाराग, सूत्रकृतांग आदि नाम लेकर पूजा की जाती है। छठे छहमाये कोई चौसठऋद्धि या सिद्ध चक्र का पाठ करे वहाँ मतिज्ञान, अवधि, मन पर्यय, को जो अर्घ्य चढाये जाते हैं वह श्रुतज्ञान के साथी होने के कारण उनका मात्र आदर कर दिया जाता है।

शुद्ध निश्चयनय वस्तुत जीव को उपादेय श्रुतज्ञान ही है । श्रुतज्ञान मे अशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय सद्‌भूतव्यवहारनय परमभाव ग्राहक नय अमूल्य रत्न हैं, नयज्ञानों को उपजाते हुए आत्मा मे अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है पुद्‌गल कर्मों की लडी की लडी कतर दी जाती है।

केवल ज्ञान भले ही असख्यात लोकों को जानने की शक्ति रखता है किन्तु श्रुतज्ञान तो अविशद रूप म अनन्त लोकों का परिज्ञान कर सकता है—"सुद केवल च णाण दोण्णं सरि साणि होति बोहादो' यों श्रुतज्ञान को केवल ज्ञान के समान कहा गया है॥

नयज्ञानों से मोक्ष होती है। अवधि ज्ञान मन पर्ययज्ञान तो सवर या निर्जरा करने मे उपयोगी नहीं हैं। श्रेणियों म शुक्ल

ध्यान बन गये लम्बे चौड़े नयज्ञानों द्वारा अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियों का उपशम या क्षय हो जाता है।

कहने का भाव है कि जो मुनि ध्यान अवस्था मे चुपचाप बैठे दिख रहे हैं, वे अन्तरङ्ग में लाखों पहलवानों से भी अधिक पुरुषार्थ कर रहे हैं। ध्यान अवस्था कोई बेहोशी या मूर्छा नहीं है किन्तु सद्विचार पूर्वक किये गये स्वसवद्य अनेक ज्ञानों की धारा है, तभी तो अनेक जन्मों के सचित हुये कर्मभार को अन्त मुहूर्त में नष्ट कर देती है छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान का काल आधा अन्त मुहूर्त है। आहार,नीहार, उपदेश देना आदि क्रियाओं को मुनि छठे गुणस्थान में रह कर कर लेते हैं। मुनि के निद्रा लेते समय छठा गुणस्थान है। यदि कोई मुनि दो चार घंटे तक सो रहे हैं तो इसका अर्थ यही है कि वे बीच बीच मे जग कर दो चार मिनट के लिए सातवें गुणस्थान पर चढ कर आत्मा का ध्यान उसी प्रकार कर लते हैं जैसे कि दस बीस हजार की जोखम लेकर रेल गाड़ी में रात को प्रवास करने वाला पथिक कुछ मिनिट सोकर भी चौकन्ना बना रहता है। मुसाफिर को धन चुराये जाने का डर लगा रहता है उससे कहीं अधिक मुनिवर को मिथ्या वासनाओं या प्रमाद से अपनी रत्नत्रय निधि के नष्ट नहीं होने देने का ख्याल बना रहता है। यदि कोई मुनि दो चार घंटे लगातार सोते हैं तो वे पाँचवे, चौथे या पहिले गुणस्थान मे लौट आये कहे जायेंगे।

ज्ञानावरणादि कर्म इतने बुरे नहीं जितनी कि उन कर्मों से जन्य वासना व भयकर पदार्थ हैं। एक मिनट मे ५० या ६० वार

घूमने वाले लड़के को पीछे भी कुछ देर तक चक्कर आते रहते हैं तभी तेली के बैल की आँखें बाँध दी जाती हैं।

संसार में घुमाने वाले कर्मों के कृत्यों को आप जानते हैं।

हमें कर्मों से डर नहीं किन्तु कर्मों की वासनाओं का डर है। वर्तमानकाल में संचित हुये कर्म अधिक से अधिक सत्तर कोटाकोटि सागर में फल देकर निकल जायेंगे किन्तु उन कर्मों के उदयकाल में आत्मा में जो मिथ्या वासनाएं जम जाती हैं वे बीजांकुर न्याय से अनन्त वर्षों के लिए कर्म बन्धों का कारण होती रहती हैं। क्रोध कर्म के उदय से आत्मा में क्रोध उत्पन्न हुआ वह पर्याय दूसरे क्षण में नष्ट हो गई फिर भी उस अनन्तानुबन्धी क्रोध की वासना अनन्त वर्षों तक उत्तरोत्तर उत्पन्न होती रहेगी।

वासना का अर्थ संस्कार या भावना है। जैसे कि मैंने पन्द्रह दिन पीछे बम्बई को जाने वाले एक विनीत विद्यार्थी से कहा कि बम्बई से मेरे लिये पाँच सेर श्री वर्द्धिनी सुपारी लेते आना उस वाक्य को सुन कर छात्र ने अपने ज्ञान में संस्कार जमा लिए कि पण्डित जी को सुपारी अवश्य लाना है। पन्द्रह बीस दिन तक होने वाली ज्ञानों की असंख्य पर्यायों में यह संस्कार उसी प्रकार ओत प्रोत चलता रहेगा जैसे कि कपड़े के सौ पर्तों के भीतर रखे हुए बढ़िया इत्र की वास बाहर आजाती है। अच्छा तो इसी बात को अब दूसरे ढंग से यों समझिये कि जैन सिद्धान्त में पर्यायों का क्रम यों माना गया है कि पहिली पर्याय तभी नष्ट होती है जब कि उत्तर कालीन पर्याय को अपना

पूरा चार्ज सम्हाल देती है, दूसरी तीसरी को, और तीसरी चौथी को, यों असख्य क्षणों तक इसी सिलसिले से चार्ज दिये जाते हैं। उद्बोधक कारण मिलने पर हमारी अनेक स्मृतियाँ जग जाती हैं, कोई पर्याय एक क्षण से अधिक नहीं ठहरती है। "पज्जायावट्ठाण मुद्धणये होदि खणमेत्त" (गोम्मटसार जी) इस समय की ज्ञान पर्याय दूसरे क्षण में नष्ट हो जायेगी किन्तु उस ज्ञान में जितने व्याकरण, न्याय, बजाजी, जमींदारी, लेने, देने, आदि के असख्य सस्कार बसे हुए हैं वे सब दूसरी ज्ञान पर्याय को सौंप दिये जायेंगे।

कोई २ सस्कार कालद्रव्य के अनुसार पुराने पड़ कर क्षीण भी हो जाते हैं। हाँ तीव्र सस्कार बहुत काल पीछे नष्ट होते हैं। चारित्र गुण के विभाग परिणामों में भी अनेक क्रोध, मान, शोक, वेद, आदि की मिथ्या वासनायें उत्तरोत्तर बहती चली जाती हैं।

बस हमको यही कहना है कि वे वासनायें कालकूट से भी बढ़ कर अतीव भयकर हैं "अतोमुहुत्त पक्ख छम्मास सखसखणतभव सजलणमादियाण वासणकालो दु होदि णियमेण" (गोम्मट सार जी) सज्वलन कषाय की वासना अन्तमुहूर्त तक रहती है, प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से हुए विभाग परिणामों की वासना १५ दिन तक ठहरती है, अप्रत्याख्यानावरण सस्कार छह महीने तक टिकता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी के मिथ्यासस्कार तो सख्यात असख्यात व अनन्त काल तक चलते रहते हैं।

एक बार कटनेदार परिपूर्ण क्रोध आजाता है तो उसका असर बहुत देर तक खाते, पीते, बैठते, उठते बना रहता है। जैसे

लम्बे तार की एक झनकार बड़ी दूर, देर तक दौड़ती रहती है। अतः भले मनुष्यों का यह कर्त्तव्य है कि उत्तम क्षमा, सदाचार सद्विचारों के द्वारा उन संस्कारों की शक्तियों का ह्रास करें।

मिथ्यात्व के वश हो उपजाई गई हित को अहित और अहित को हित समझते रहने की आदतों को सम्यग्दर्शन द्वारा मिटा दिया जाता है।

कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की आराधना के परिणामों को सुदेवगुरुशास्त्र के श्रद्धान से क्षीण शक्ति वाला बना दिया जाता है। क्रोध उपजाते रहने की वासना का क्षमा पुरुषार्थ से मटियामेट कर दिया जाता है। अब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और कषायों की वासनाओं को रत्नत्रय की प्रतिक्षण शक्तिशालिनी परिणति से नष्ट कर देना चाहिये।

व्याकरण, साहित्य, मीमांसा दर्शन, न्याय दर्शन आदि का पढ़ा हुआ उद्‌भट विद्वान झट आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री आदि की कठिन पंक्तियों को लगा लेता है, केवल थोड़ा सा न्यायशास्त्र या मीमांसा दर्शन को पढ़ा हुआ पंडित उन गूढ़ पंक्तियों का रहस्य नहीं समझता है। अतः कहना पड़ता है कि उद्‌भट विद्वान के ज्ञानों में उन पहले पढ़े हुए प्रत्येक ग्रन्थ का संस्कार धाराप्रवाह रूप से अटूट बह रहा है।

हम तो कहते हैं कि प्रत्येक रद्दी, सद्दी, सड़ी हुई देखी सुनी वार्ता का भी आत्मा में असर पड़ता है। उन संस्कारों का बोझ भी अपने में विराजमान कर आत्मा को बहुत दिन तक भविष्य पर्यायों में व्यर्थ ढकेलना पड़ता है। कोई २ सैलानी जीव अपने

दिमाग का रद्दी बातों से इतना भर लेते हैं कि उसमे अच्छी बातों और शुभ विचारों के लिए स्थान खाली नहीं रहता है। इस भयकर क्षति से सबको बचते रहना चाहिए।

जैसे खोटे भावों की वासनायें बहुत काल चलती रहती है। उसी प्रकार शुभभावों के सस्कार भी अनन्त काल तक चलते रहते हैं। एकबार सम्यग्दर्शन हो जाने पर अनन्तभावों वाले अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल की अनन्त परणतियों में कुछ ऐसा सस्कार जम जाता है कि मिथ्यादृष्टि अवस्था के अनन्त भावों की पर्यायों में वह अव्यक्त अवसवेद्य होकर दूर भविष्य काल में पुन सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हुए वह मोक्ष में धर देता है।

उपशम श्रेणी का उत्कृष्ट अन्तरकाल पूर्वकोटि पृथक्त्व या कतिपय अन्तर्मुहूर्त कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन माना गया है। एक बार अच्छा समाधिमरण करने वाला सात, आठ भव में मोक्ष अवश्य चला जायगा।

प्रात काल दक्षिण करवट से उठकर पूर्व मुख होकर पच परमेष्ठी का ५ मिनिट चिन्तवन करने वाला प्राणी दिन भर तक शुभ आचरण करने का भाव बनाये रख सकता है। उसका असर चौबीस घंटे तक अवश्य रहेगा। भले ही कोई तीव्र कषायों के वश उसका लक्ष्य न रक्खे। इस वासना या सस्कार के रहस्य का आप गम्भीर अध्ययन करें।

वैभाविक परिणतियों के सस्कार की अपेक्षा स्वाभाविक परिणामों के सस्कार प्रबल हैं। क्योंकि स्वाभाविक परिणाम तो आत्मा की घरू निजी सम्पत्ति है। "स्वपरादानापोहनव्यवस्था

पाद गलु वस्तुनो वस्तुत्व " (राजवार्तिक) अपने दश दशारा, गुण, गुणांश, हा रह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों का ग्रहण करना और परकीय अंशों का त्याग करते रहना ही वस्तु का वस्तुत्व है।

द्रव्य अपने स्वाभाविक परिणामों को बड़ी खुशी से अनन्त काल तक पकड़ रह सकता है।

"एय दवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।
तीदाणागदभदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥"

(जीव काण्ड)

एक विवक्षित द्रव्य के अनन्त गुणों की तीन काल सम्बन्धी पर्यायों का पिण्ड ही तो वह द्रव्य है। जैसे कि—गंगोत्री पहाड़ से लेकर गंगा सागर तक बह रही अखण्ड जलधारा का नाम गंगा है। केवल हरिद्वार, कानपुर या बनारस में नीचे भरा हुआ पानी ही गंगा नदी नहीं है।

अत हमको कहना पड़ता है कि आत्मा अपने स्वभावों पर सर्वदा जमे रहने के लिये बहुत उत्सुक रहता है। यह आत्मा क्रोध व्यभिचार आदि स्वरूप नहीं, किन्तु क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि स्वरूप है। तभी तो दशलक्षण धर्मों की जयमाला में "ओं ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तमक्षमाधर्मांगाय नम " ओं ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तममार्दवधर्मांगाय नम " इन मन्त्रों द्वारा उत्तम क्षमा आदि को परब्रह्म यानी शुद्ध सिद्ध स्वरूप कहा गया है।

ये कोई अतिशयोक्तियां नहीं हैं बल्कि अन्य सिद्धान्त शास्त्रों में भी उच्चकोटि के परमभाव ग्राहक शब्दनय हैं। इसका अभिप्राय यह निकला कि आत्मा में उत्तम क्षमा है। यह सद्भूत व्यवहारनय का कथन है।

किन्तु आत्मा ही उत्तम क्षमा है यह निश्चय मार्ग को अव लम्बन करने वाला बढ़िया श्रुतज्ञान है। देखिये, स्वय ही देव होजाना सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। अपनी शुद्ध आत्मा को देव समझना दूसरी श्रेणी है। जिनेन्द्र देव को देव समझना तीसरा दर्जा है। एक आचार्य ने बहुत अच्छा लिखा है कि—

"पुष्पकोटिसम स्तोत्र स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटिसम ध्यान ध्यानकोटिसमा क्षमा ॥"

भगवान् के सम्मुख करोड़ फूल चढ़ाने का जो फल है, उतना ही एक संस्कृत या भाषा के स्तोत्र बोल देने का है। क्योंकि कोरा द्रव्य चढ़ाने वाला जीव भगवान् के गुणों की ओर आकर्षित नहीं हो रहा है और स्तुति करने वाला भक्त तो भगवान् के गुणों का कीर्तन कर रहा है। हाँ, भावपूर्ण सामायिक की एक जाप देन का फल एक करोड़ स्तोत्रों के बराबर है। कारण कि-स्तोत्र पढ़ने वाला भक्त कभी भगवान् को सूर्य बना देता है और कभी दीपक, कोयल, तोता, चन्द्रमा, समुद्र, चाहे जो कुछ मनमाना बना डालता है।

चिरपरिचित भगवान् को एक वचन से कहने की उसकी आदत पड़ चुकी है। श्री समन्तभद्र सरीखे उद्भट आचार्य तो भगवान् के साथ तर्क वितर्क करते हुए उनकी स्तुति करते हैं। जरा प्रसिद्ध आचार्य मानतुङ्ग महाराज की प्रसिद्ध स्तुति को देखिये —

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
मुद्योतक दलितपापतमो वितानम् ।

सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुग युगादा-
नालबन भवजले पतर्ता जनानाम् ॥ १ ॥
(भक्तामर काव्य)

जैसे कोई दुकानदार अच्छे माल को सबसे पीछे बतलाता है उसी प्रकार यहाँ भी भगवान के गुणों पर लक्ष्य दिया गया है। अच्छा तो सुनो, नमस्कार पूर्वक भक्ति करते हुए देवताओं के झुक रहे मुकुटों की प्रभा को चमकाने वाले आदिनाथ भगवान के चरण हैं। यह पहिला विशेषण है। मणियों को चमकाने वाले अन्य भी दीपक, इक, पारा आदि पौद्गलिक पदार्थ हो सकते हैं। मणियों को चमका देने से भगवान का विशेष अतिशय प्रगट नहीं हो पाता है।

अत दूसरे विशेषण द्वारा आचार्य यह दिखलाते हैं कि— श्री ऋषभदेव भगवान ने पाप समुदाय को नष्ट कर दिया है। यह विशेषण पौद्गलिक पदार्थ या चक्रवर्ती, अहमिन्द्र आदि में नहीं लग सकता है। साथ ही भगवान की शक्ति भी व्यक्त हुए बिना नहीं रहता है। इधर हम ससारी जीवों का स्वार्थ पुष्टि में सर्वदा दृष्टि लगी रहती है।

अब आचार्य मनोवाञ्छित फल को देने वाला तीसरा विशेषण यों लगाते हैं कि—ससार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को हाथ का सहारा देकर मोक्ष मार्ग में लगाने वाले प्रथम जिनेन्द्र हैं। यह तीसरा विशेषण तो सर्वोत्कृष्ट है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य सरीखे कोई आचार्य होते तो तीसरा विशेषण पढ़कर ही शुद्ध निश्चयनय का कथन प्रारम्भ कर देते,

दोनों पहलुओं से मतलब को गाठने वाले एक कवि की स्तुति का नमूना भी देखिये —

'आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीपारव या भूमिका
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽ द्यावधि ।
प्रीतो यद्यसि ता निरीक्ष्य भगवन् मत्प्रार्थितं देहि मे,
नो चेद् ब्रूहि कदापि मानयमिमा मामीदृशीं भूमिका ॥

ये कवि तो बड़े ढंग से अपना स्वार्थ पुष्ट करना चाहते हैं। भगवान से कहते हैं कि हे पार्श्वनाथ! नट के समान मैंने तुमको प्रसन्न करने के लिये बहुरूपिया बन कर चौरासी लाख वेष दिखाये। उन अभिनयों को देख कर यदि आप प्रसन्न हो गए हैं तो मुझे मनोवाञ्छित अर्थ को मांगने के लिये आज्ञा प्रदान कीजिये। हाँ, और यदि आप उन रूपों को देख कर प्रसन्न नहीं हुए हैं तो मुझको उन नापसंद चौरासी लाख वेशों को नहीं धरने का इजाजत दे दीजिये। इस स्तोत्र द्वारा कवि दोनों हाथ लड्डू रखना चाहता है कि—भगवान प्रसन्न होकर मुझे वर माँगने को कहेंगे तो मैं त्रिलोकीनाथ से मोक्ष प्राप्त करा देने का वर माँगूगा। और, यदि वेष नहीं लाने को कह देंगे तो भी चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना छूट कर मुझे मोक्ष प्राप्त हो जायगी।

सारांश यह है कि-आध्यात्म प्रेमियों को स्तुति वाक्यों में बहुत सा व्यर्थ भाग दृष्टिगोचर होता है। हाँ, आप्य से अन्तर्जल्प या बहिर्जल्प करते हुए शुद्ध आत्मा के गुणों पर चित्त लग जाता है।

श्लोक के तीसरे चरण में करोड़ जाप्यों का फल एक ध्यान

के बराबर माना गया है। क्योंकि जाप्य में शब्द का संसर्ग है। और शुद्ध वस्तु के स्वरूप में शब्दयोजना चलती नहीं है। "श्रुतिवाचामपरसदृशी" (श्री वादिराज मुनि) शब्दों की वाचकत्व शक्ति का परिज्ञान दूसरों के सादृश्य,अनुसार हुआ करता है। मीमांसकों ने तो—

"दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नभिधास्यते।"

यों शब्दों को दूसरों के लिये ही स्वीकार किया है। वाचक शब्द का अपने लिये कोई उपयोग नहीं है। घोकने वाला रट्टू विद्यार्थी या गाने वाला रसिक गवैया तो मात्र शब्दों की ध्वनि के आनन्द पर लट्टू है। वाच्य अर्थ की ओर जब लक्ष्य जायगा तो शब्दों को परार्थ ही कहना पड़ेगा।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में लिखा है कि—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥

मैं शब्द द्वारा दूसरों से समझ रहा हूँ या शब्दों द्वारा दूसरों को समझा रहा हूँ, यह मेरी मत्त उन्मत्तपुरुष की सी चेष्टा है, क्योंकि मैं शुद्ध स्वरूप आत्मा तो अवाच्य, अनुपम, निर्विकल्पक हूँ। अतः कहना पड़ता है कि करोड़ जप्यों से एक निर्विकल्प ध्यान बराबरी करता है।

श्लोक के चौथे पाद में करोड़ ध्यानों के समान एक क्षमा को बताया गया है। इसका रहस्य यों समझिये कि ध्यान अन्तिम फल नहीं है ध्यान से मोक्ष होता है। मुक्ति अवस्था में ध्यान नहीं है। उर्दू वाले कहा करते हैं कि—"फल प्राप्ति की अपेक्षा इन्तजारी

मे विशेष आनन्द है। यों कोई पण्डित कारण को भले ही अच्छा कहले किन्तु ध्यान मुख्य रूप से बारहवें गुणस्थान तक या गौण रूप स तेरहवें, चौहदवें, गुणस्थान तक ही पाया जाता है। किन्तु उत्तमक्षमा तो सिद्ध परमात्मा स्वरूप है। मोक्ष में भी अनन्तकाल तक टिकी रहती है।

वह अनादि से अनन्तकाल तक आत्मस्वरूप होकर परम आनन्दमय है। अत' अर्थ, व्यञ्जन, योगों की सक्राति को धारने वाले या सक्रान्ति विहीन शुक्ल ध्यानों से भी कोटि गुणा बढकर उत्तमक्षमा का पद है। क्षमाहीन ध्यान कौडी काम का नहीं।

अहिंसा, दया, करुणा, वात्सल्य, क्षमा, इन परणतियों मे थोडा २ अन्तर है। उत्तम क्षमा सर्वोत्कृष्ट चरम फल है। सम्यग्दृष्टि के पाये जाने वाले' प्रशम भाव से ही क्षमा का प्रारम्भ हो जाता है। सम्यगदृष्टि ने निज आत्मा का अवलोकन कर लिया है और आत्मा क्षमारूप है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य मिथ्यादृष्टि के नहीं पाये जाते हैं।

सम्यग्दर्शन

अनेकानेक जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये उत्साहित हो रहे हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार धार्मिक सभ्यता का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान स हो जाता है। देव, गुरु, शास्त्र का श्रद्धान करना या तत्वार्थों का श्रद्धान करना अथवा स्वानुभूति करना ये सब न्यारी न्यारी विवक्षाओं द्वारा सम्यग्दर्शन के लक्षण माने गये हैं। अन्त मे जाकर सबका निष्कर्ष एक ही निकलता है। जैनी का छोटा बालक भी जिनेन्द्र देव के दर्शन करता है।

चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र है। यहां से प्रारम्भ कर परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन तक वही एक लम्बा चौड़ा मार्ग है। जैसा कि—पेशावर से प्रारंभ होकर कलकत्ता तक एक लम्बी सड़क चली गई है।

श्री जिनराज की वीतराग विज्ञानमय शान्त मुद्राका दर्शन कर हृदय में एक विलक्षण प्रकार की सुख शांति का आभास होने लगता है। न जाने यहां द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता मिल जाने पर किस प्रतिमा के दर्शन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाय। पंचकल्याणकों की क्रिया, सूर्यमन्त्यास आदि से प्रतिष्ठित की गई प्रतिमा में वैराग्य की उपजाने की शक्ति है।

जन्म कल्याणक के अवसर पर बालक जिनेन्द्र को सौधर्म इन्द्र सहस्र नेत्रों से देखकर भी परितृप्त नहीं होता है। शास्त्र में नारकी, तिर्यञ्च मनुष्य, देव, इन्द्र अहमिन्द्र, इन में उत्तरोत्तर सुंदरता मानी गई है।

एक यह भी लोकप्रसिद्ध नियम है कि—थोड़े सौन्दर्यवाला पुरुष अधिक सुन्दर व्यक्ति को निरखा करता है। अर्थात् कंगाल या दरिद्र पुरुष बेचारा परिपूर्ण या सम्पन्न भाग्यशाली को टक टकी लगा कर देखता रहता है। संसार में प्रायः सभी जीव दरिद्र हैं।

एक बिना बच्चे वाली महारानी उस चार लड़कों वाली पिस नहारी को तीव्र इच्छा से निरखती रहती है जिसका कि एक लड़का फटे गुदड़ों में रो रहा है। दूसरा रोटी का टुकड़ा माग रहा है। तीसरा बीमार पड़ा है। चौथा पीसते वक्त मचल रहा है।

ऐसा देखकर महारानी विचारती है कि मेरे यदि लड़का होता तो मैं उसे दिन रात लाड़, प्यार करती और आँखों में रखती। इधर पिसनहारी भी वस्त्र, रत्न, भूषण, दासी, दासों आदि से सुसज्जित हो रही रानी साहिबा को दूर तक देखती रहती है। बात यह है कि रानी पुत्रों से रहित है और पिसनहारी धन से खाली है एक बात यह भी है। कि बरात म सभी उपस्थित या आगन्तुक अथवा अन्य सभी दर्शक बेचारे दूल्हा को देखते हैं। यहां तक कि दूल्हा को सदा देखने वाले उसके माता पिता भी उसको गंभीर दृष्टि म प्रेम पूर्वक देखते हैं।

उसका रहस्य यह है कि—दूल्हाने अपने और पत्नी के गृहस्थाश्रम का बोझ सम्हालने के लिये जो कमर कसी है। उस समय का दृश्य मनोरम है। ऊंची परीक्षा को उत्तीर्ण कर लेने वाले छात्र का मुह देखा जाता है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये जाने हुए योधा को कमनीय कामिनी बड़ी उत्सुकता से निरखती है।

"वक्त्रं वक्ति हि मानसम्।"

चेहरे पर मानसिक विचारों का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। प्रकरण में यह कहना है कि पुत्र न होना, उसी भाव से मोक्ष नहीं जासकना, संयम की वर्तमान कालीन अप्रकटता इत्यादिक रूपों से इन्द्र रीता (खाली) है। बालक जिनेन्द्र भगवान् में अतुल्यबल या वीतराग विज्ञानता अथवा अनन्त जीवों को मोक्षमार्ग में लगादेने की शक्तियों का परामर्श कर दरिद्र इन्द्र बेचारा उन

भरे पूरे जिनेन्द्र देव को हजार नत्र बनाकर निर्निमेष एक टक होकर देखता रहता है।

जिनप्रतिमा में तो पाँचो कल्याणकों का और चौबीस तीर्थंकरों का आरोप किया गया है। अत जिनेन्द्रभक्त पुरुषों को बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ देर तक जिनप्रतिमा का दर्शन करना चाहिये। जहाँ कहीं जायें वहाँ के जिन मन्दिरों के दर्शन अवश्य करें। नौ देवताओं में जिन चैत्यालय भी एक देवता है।

आज कल चचलचित्त मनुष्यों के भाव यहाँ वहाँ की सैर करने के लिए झट लालायित हो जाते हैं। गिरनार जी को जाने वाले यात्रियों में बहुभाग मनुष्य बम्बई देखने की इच्छा को नहीं रोक पाते हैं। दक्षिण पश्चिम देशों से सम्मेद शिखर जी जाने वाले यात्रियों में से चालीस प्रतिशत मानव कलकत्ता सैर करने के लिए भी जाते हैं। यह उनका जाना आना उचित है या अनुचित इसका निर्णय आप स्वय कर सकते हैं। जैन सिद्धान्त में वीतराग भावों को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। श्री अमृत चन्द्र सूरि ने कहा है—

> अप्रादुर्भाव· खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
> तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥
>
> (पुरुषार्थ सिद्धयु पाय)

जिनशासनका निचोड निकालकर यदि कोई एक वाक्य बनाया जा सकता है तो वह यह है कि "रागादि कषायों को उत्पन्न मत करो।"

प्रत्येक गृहस्थ को अपने पुण्य पाप की रोकड को सम्हालते रहना चाहिये। हमने आज कितने पुण्य का आस्रव किया है और कितना पाप का आस्रव किया है? अथवा कितने संवर और निर्जरा के कारण मिलाये हैं? इसको खतियाते रहना चाहिये।

जो व्यापारी अपनी रोकड को न मिलाकर अनाप सनाप खर्च करता चला जाता है उसका कुछ दिनों में दिवाला निकल जाना अनिवार्य है। हम पर पापपक रूपी कर्जा बहुत लद गया है। डेढ़ गुणहानि प्रमाण कर्म द्रव्य संचित हो गया है। अतीव दुर्लभ इस मनुष्य पर्याय में अपनी रोकड ठीक करने और लाभ प्राप्ति के अवसर को अब व्यर्थ नहीं गवाना चाहिये।

एक मनचला सैलानी मनुष्य सैर करने के लिये बाजार में निकल जाता है। वहीं पर वेश्याओं को देखता है, कदाचित हलवाई आदि की दूकान देख कर मुंह से लार टपकाने लगता है। किसी दुकान को देख कर कहता है कि इसकी रचना ठीक नहीं है, अन्य कोठी को देख कर उसकी भूरि २ प्रशंसा करता है। इन सब क्रियाओं से राग, द्वेष, पूर्वक व्यर्थ में कितना पाप बंध हुआ। इसका गोम्मटसार कर्मकाँड का स्वाध्याय करने वाले पण्डित अनुमान लगा सकते हैं और आत्मविशुद्धि में भारी क्षति पड जाती है इसका आप भी अनुमान कर सकते हैं।

स्थूल रूप से यह कहना था कि—रागी, द्वेषी या निठल्ले जीवों की परणतियों में मोटा पाप बन्ध होता रहता है—आचार्य कहते हैं कि—

'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यति" रागी जीव सर्वदा कर्मों को बाँधता रहता है और वीतराग पुरुष कर्मों की निर्जरा करता है। सत्य बात तो यह है कि—ज्ञान भले ही थोड़ा हो यदि राग द्वेष मोह नहीं है तो यह स्वल्प ज्ञान ही तुम्हें मोक्ष में पहुँचा देगा। श्री समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि—

"अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाद्धि मोक्ष.स्यादमोहान्मोहिनोन्यथा॥
(देवागम)

अज्ञान से मोही को बंध होता रहता है, पर मोह रहित अज्ञानी के बंध नहीं है। मोह रहित जीव को थोड़े ज्ञान से मोक्ष हो जाती है और मोह सहित बहुत ज्ञान से कथमपि मुक्ति नहीं हो पाता है। आज कल जो असदाचारी विद्यार्थी अंग्रेजी, संस्कृत, साइन्स आदि विद्याओं को बहुत पढ़ लेते हैं, मैं तो कहता हूँ कि यह तत्त्व ज्ञान के बिना कोरा बोझ लादना है। पचास या सौ वर्ष पहले के विद्वान् केवल रत्नकरण्ड या तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ कर जितने मन्द कषायी और तत्त्वज्ञानी होते थे, उतने आजकल के अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि में आनखशिख निमग्न होने पर भी सदाचार या अध्यात्म के प्रेमी नहीं हो पाते हैं। इसके कई कारण हैं। कुछ कारण तो गोप्य हैं। उनको मैं यहां कहना नहीं चाहता।

दानियों का जिन किन्हीं भावों से दिया गया द्रव्य, या छात्रों का जिस किसी भाव से उसका किया गया उपयोग यह क्रिया भी रहस्य से खाली नहीं है। अन्य छोटे छोटे दोषों के साथ

कतिपय छात्रों में कृतघ्नता दोष पाया जाता है। यद्यपि आजकल के निकृष्ट देश काल मे माता पिता को भी पुत्र उन भक्ति भावों मे नहीं देखते हैं जैसा कि पहले मनुष्य अपने माता पिताओं की श्रद्धा किया करते थे। तथा आजकल स्वामी और सेवक में भी वैसे कृतज्ञता के भाव नहीं पाये जाते हैं जो कि उनमें समुचित होने चाहिये।

किन्तु गुरु और शिष्य का यह रूखापन या शिष्यों का गुरुओं की बुराई करने का भाव बहुत अधिक खटकता है। छात्र का अर्थ यह है कि—गुरु के विद्यमान दोषों को भी ढक दे। किन्तु गुरु के अविद्यमान दोषों का प्रगट करना छात्र की अत्यन्त अध पतन अवस्था का सूचक है। श्री उमास्वामी ने परनिन्दा व आत्मप्रशंसा को नीच गोत्र के आस्रव का कारण कहा है।

वर्तमान काल म जैन विद्वानों और जैन छात्रों का समाज मे वह आदर नहीं दिखता है जो तीस वर्ष पहले था। मुझे तो इस का कारण यही प्रतीत होता है कि कृतज्ञता गुण न होने से इनकी यह दशा हुई है। चन्द्रप्रभ काव्य में लिखा है कि—

"निधित्सुरेन तदिहात्मरम्य कृतज्ञतायामसुपेहि पारम्। गुणैरूपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥

अभिप्राय यह है कि—अनेक गुण से युक्त हो रहा भी कृतघ्न जीव स्व को और पर को दुखित करता रहता है। कृतज्ञता गुण सब गुणों के ऊपर—विराजमान है। जब कि गुरु अपने शुद्ध भावितज्ञान को शिष्य की आत्मा में भारी शक्ति लगा कर यथा

देता है, ग्रन्थों की अति कठिन पंक्तियों को शिष्य के हृदय में स्फुरायमान कर देता है, शिष्य को सदा हित प्राप्ति और अहित परिहार का उपदेश देता रहता है ऐसी दशा में विनीत शिष्य का क्या कर्तव्य होना चाहिये इसका आप स्वयं विचार कर सकते हैं। वैष्णवों या मुसलमानों में इतनी कृतघ्नता नहीं है। दुनिया में चिकनी चुपड़ी बातों को बनाने वाले अनेक जीव हैं किन्तु शुभ भावों को देने वाले कदाचित विरले ही पाये जाते हैं। माता पिता और गुरु सदा सन्तान या शिष्य को सद्भाव देते रहते हैं। सद्भावों का देना केवल सुपारी या पान दे देने के समान नहीं है बल्कि सद्भावों को देने में गुरु की आत्मीय, मानसिक, शक्तियों का व्यय होता है। श्रेष्ठ राजा की विनय प्रजा करती है, इसका तत्त्व यही है कि राजा अपने सत्पथ पर लाने के सद्भावों को प्रजा के लिये प्रदान करता रहता है। जो ऐसा नहीं वह राजा कहलाने योग्य नहीं है।

रट्टू उपदेशक भले ही घन्टे दो घन्टे व्याख्यान झाड़ दे किन्तु सच्चे उपदेष्टा को अपनी तपश्चर्या के फल का व्यय करते हुए अपने शुद्ध भावों को देते समय शारीरिक, मानसिक क्षतियां उठानी पड़ती हैं। ज्ञान दान का फल केवलज्ञान है। महामना गुरु मात्र इतना संतोष कर लेते हैं, फिर भी सद्विद्या को ग्रहण करने वाले शिष्य का गुरु का सदा कृतज्ञ बना रहना चाहिये। कृतज्ञ कुत्ता भी रोटी डालने वाले के प्रति पूछ हिला कर कृतज्ञता प्रकट कर देता है। भाइयो! कृतज्ञता गुण का धारण करो उपकारक का प्रत्युपकार तो आप क्या कर सकते हो? मृत्यु

शैय्या से उठाकर जीवन देने वाले उपकारी वैद्य का भला क्या बदला दिया जा सकता है ? कुछ नहीं । देखो क्रूर सिंह भी कृतज्ञता गुण को समझता है। एक कथा है कि—

एक जगल म सिंह को उछलते वक्त बडा काटा लग गया । सिंह के प्रयत्न से वह काटा नहीं निकला। तब तक उस कुछ दूर मार्ग से एक मनुष्य आता हुआ दिखा । सिंह मनुष्य के पास गया। पथिक यह विचार कर कि साक्षात् यमराज ही मेरे पास आ रहे हैं । ईश्वर स्मरण करता हुआ बैठ गया सिंह ने काटे वाले पाव को उस ग्रामीण की गोद मे रख दिया। मृत्यु से भयभीत उस मनुष्य ने बडे साहस से आंख खोल कर उसके पाँव में लम्बा सूल लगा हुआ देखा। हृदय मे विचार कर लिया कि—यह काँटा निकलवाने का इच्छुक है। ग्रामीण ने हाथ से काटा निकाला, पर जब वह न निकला तो दातो से पकड़ कर कांटे को निकाल दिया। सिंह ने प्रसन्न होकर जोर से दहाड़ लगाई और कृतज्ञ दृष्टि से उपकारक को देखकर एक ओर जगल मे चला गया। कुछ दिनों पश्चात राजा ने उस सिंह को पकड़ कर प्रजा के विनोदार्थ पिंजड़े में कैद कर दिया। कदाचित उसी ग्रामीण पुरुष से एक ऐसा घोर अपराध बन गया जिसका दड उसको सिंह के पिजड़े में डाल कर मरवा डालना था। सिपाहियों ने उस (काँटा निकालने वाले) ग्रामीण को उसी सिंह के पिजड़े में मृत्यु दण्ड पाने के लिये ढकेल दिया। कृतज्ञ सिंह ने उसे पहिचान लिया तथा अपना उपकारी जान कर नहीं मारा और यह ग्रामीण मौत से छुटकारा पा गया। अभिप्राय यह है

अनुसार परस्पर में प्रीतिभाव बढ़ाना चाहिये। जैनधर्म का प्रचार वात्सल्य भावों की भित्ति पर ही डटा हुआ है।

अपने लडके लड़कियों के नाम भी जैननामों पर होना चाहिये। जैसे पार्श्वदास, महावीरप्रसाद सुमतिचन्द्र, श्रेयांसकुमार, शीतलप्रसाद, अकलङ्क, सीता ब्राम्ही आदि।

जैन-शासन

श्री जिनेन्द्र देव के शासन में अपवाद रहित दर्शाये हैं। अर्थात् अन्य दार्शनिकों ने जैसे कदाचित विपत्तिकाल में हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने आदि का उपदेश दे दिया है वैसा जिनदर्शन में नहीं है।

तीनलोक तीनकाल में अबाधित हो रहे तत्वों का लोक-हितार्थ प्रतिपादन करने वाला यह जिनेन्द्र देव का शासन जयवंता रहे।

अन्य धर्मों के देव या गुरु कषायवान हैं। अतः उन धर्मों के पालने वाले तीव्रकषायी होवें इसमें आश्चर्य नहीं। किन्तु पवित्र जैन धर्म को पालने वाले यदि छल कपट करें, यह तो सबसे बड़ी आत्मवंचना होगा। जैन धर्म इतना कमजोर नहीं है जो कि अधार्मिकों या कपटियों से अपना प्रचार चाहे। धर्म के ठेकेदारों में आधे से अधिक निन्द्यकर्मा हैं। किसी अवधिज्ञानी द्वारा यदि पापियों की गणना कराई जाय तो धर्मात्मा कहाने वाले बकभक्तों में ही ज्यादा पापी निकलेंगे। व्यक्त से अव्यक्त कुकर्म अधिक भयङ्कर हैं। मायाचार तो शल्य है। शल्यवान् का

उसी प्रकार कोई व्रत धारने का अधिकार नहीं है जैसे कर्जदार को श्रावकदीक्षा या मुनिदीक्षा लेने की आज्ञा नहीं है। कितने ही मनुष्य चालाकी, पालिसी, मायाचार को आजकल की सभ्यता अनुसार गुण समझने लग गए हैं। किन्तु यह उनका अक्षम्य अपराध है। कपट या विश्वासघात के समान कोई दूसरा पाप नहीं है। हमारा आपका आत्मा आर्जव धर्ममय है।

"धम्मो वत्थु सहावो, खमादि भावेण परिणदो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो, जीवाणं रक्खण धम्मो॥"

परमार्थ रूप से विचारा जाय तो आत्मा के सम्पूर्ण अंशों में धर्म और सुख ठसाठस भरा हुआ है। मोही जीव परवस्तु में इष्ट की कल्पना कर उसका अनुभव नहीं कर पाता है। वह सौड़ में ही गर्मी देने की शक्ति मान रहा है। अपने शरीर या आत्मा में मानों कोई शक्ति है ही नहीं। यदि सोड़ हो शरीर को गर्म कर देती तो शीतज्वरी मनुष्य में भी गर्मी ला देती। जाड़े के दिनों में आप सौड़ के भीतर थर्मामिटर को लगाकर उसका ताप मान ले लीजिये फिर सोड़ को ओढ़ कर आधा घण्टा पीछे ताप मान (टैम्परेचर) लीजियेगा, आपको भारी अन्तर मिलेगा। इसी प्रकार मोदक, दूध, स्त्री, भूषण, वस्त्र आदि में भी जितना सुख मान रक्खा है उतना नहीं है।

अनन्तानन्त गुणों के भण्डार आत्मा को अपना सुख प्राप्त करने के लिये किसी भी जड़ पदार्थ या स्वातिरिक्त चेतन पदार्थों की आवश्यकता नहीं है। यह परमार्थ सत्य है।

प्रतिक्रमण

यूरोप में क्वचित् यह पद्धति है कि मरते समय मनुष्य अपने गुप्त अपराधों को भी गुरु या कुटुम्बियों के सम्मुख निवेदन कर देता है इस पद्धति से अनेक मुकदमों की गूढ़ ग्रंथियाँ सुलझ जाती हैं। किन्तु हमारे यहाँ यह पद्धति अनादि काल से चली आ रही है। गुरु के सम्मुख शिष्य का विनय के साथ अपने दोषों का निवेदन करना आलोचन माना गया है। तीव्र कर्म के उदय या प्रमाद के वश हो चुके अपने दुष्कृत्यों पर पछताते हुए उसके मिथ्यापन की भावना अनुसार प्रतिकार कर देना प्रतिक्रमण है। गमन करते समय ईर्यापथ द्वारा होने वाला, रात दिन में होने वाला इत्यादि रूप से प्रतिक्रमण के सात भेद हैं।

आजकल दर्शन, जाप, पूजा आदि की पद्धति जैसे चालू हो रही है वैसा प्रतिक्रमण कर लेने का प्रचार नहीं है। मुनीश्वरों या श्वेताम्बरों में प्रतिक्रमण का प्रचार है, किन्तु दिगम्बर श्रावकों को भी प्रतिदिन प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये। ऐसा करने से पापाचार बहुत कुछ रुक जायगा।

"पडिक्कमामिभंते, इरियावहियाए विराहणाए, अणागुत्ते अइग्गमणे, पाणुग्गमणे, बिज्जुग्गमणे, हरिदुग्गमणे, उच्चारपस्सवणखेलसिंहाणय वियडियपइट्ठावणियाए जेजीवा एइंदियावा, बेइंदियावा, तेइंदियावा, चउरिंदियवा, पचिंदियावा, णोल्लिदावा, पेल्लिदावा, संघाट्टदावा, संघादिदावा, उद्दाविदावा, परिदाविदावा, किरिच्छिदावा, लेसिदावा छिंदिदावा, भिंदिदावा, ठाणदोवा, ठाण

चक्कमणदोवा, तस्स विसोहिकरण, जाव अरहन्ताण, भयवताण, णमोकार करोमि, तावकाय, पावकम्म उच्चारिय वोस्सरामि" यों कहकर पश्चात सत्ताइस श्वास उच्छ्वास द्वारा नौ बार णमोकार मन्त्र पढो। अथवा इच्छामिभंते ईरियावहमालोचेउ पुव्वुत्तर दक्खिन पच्छिम चउदिसु, विदिसासु, विहरमाणेण, जुगुत्तर दिट्ठिणा, भट्ठव्वा, डवडवचरियामे पमाददोसेण,' पाण-भूदजीव सत्ताण एदेसि उवघादो, कदोवा, कारीदोवा किरतोवा, समणुमणु दोवा, तस्समिच्छामि दुक्कड।

तात्पर्य यह है कि जाप या सामायिक के समान प्रतिक्रमण भी श्रावकों को करना चाहिये। पश्चात कायोत्सर्ग का विधान भी है। श्वास, उच्छ्वास, चढा उतारकर नमस्कार मत्र बोलने से शारीरिक पुष्टि भी प्राप्त होती है। श्वास उच्छ्वास के साथ आयु का सवन्ध भी है। धीरे-धीरे श्वास के आरोह अवरोह करने से मनुष्य अधिक जीवित रहता है। यानी आयुष्य के अपकर्षण का प्रकरण कम मिलता है। आयु को पूरा भोगने के लिये बहुत से कारणों की आवश्यकता है, उनमें एक यह भी कारण है। पूतीपुरुषों को ये बड़े पुष्टि के भोजन है।

तत्त्वार्थसूत्रपाठ या जिनार्चन अथवा सामायिक के अन्त मे भी नौ बार नमस्कार मत्र उच्चारण करते हुए कायोत्सर्ग करना चाहिये। इससे पुण्यकर्म के मध्य में प्रमादवश उपार्जित किये दुष्कर्मो का उसी प्रकार विनाश होकर आत्मा अत्यन्त पुण्य भाजन बन जाता है जैसे कि केवलिसमुद्घात द्वारा तीन अंघातो कर्मों का समीकरणविधान कर दिया जाता है।

जैन धर्म की उदारता

कोई भी सद्दी जीव जैन धर्म को पाल सकता है। नारकी, पशु, पक्षी, अव्रती, देव, जब जैनधर्म धार लेते हैं तो मनुष्यों की बात ही क्या है। जो प्रथम से जैन नहीं हैं किन्तु दीक्षा के उचित कुल में उत्पन्न हुआ है वह भी अवतार आदि आठ क्रियायों को करके पक्का जैन हो जाता है। अवतार वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढचर्या, और उपयोगिता इन क्रियाओं को करता हुआ कोई भी मनुष्य जैनधर्म की छत्र छाया में स्वपर कल्याण कर लेता है। शूद्र और जाति स हीन पुरुष भी अपनी शारीरिक शुद्धि आदि को करता हुआ यथायोग्य धर्म का पालन कर आत्मकल्याण करने का अधिकारी है।

अपने अपने पदस्थ मे रहकर ही की गइ धामिक क्रिया फलित होगी। हाथी का पलान बकरी पर नहीं धर देना चाहिये। ग्रामीण नीति है कि—

"जाको कार ताही छाजै, गदहा पीठ मोंगरा बाजै।"

स्त्री, पशु, शूद्र, चाण्डाल, सभी जीव अपन अपने योग्य आचार को पालते हुए जैनधर्म द्वारा आत्मकल्याण कर सकते हैं। जिन शासन में योग्यता अनुसार कही गई धार्मिक क्रिया का अतिक्रमण (उलघन) करन वाले पापबध के भागी होंगे।

देव गुरु, शास्त्र के श्रद्धान को पक्का रक्खो, आज कुछ लोगों के श्रद्धान ढीले पड़ गय हैं। पक्के धर्मात्मा भी विपत्ति पड़ने पर झट विचलित हो जाते हैं। बस, यही पतन का कारण है।

सम्यग्ज्ञान

रत्नत्रय मे सम्यग्ज्ञान मध्यवर्ती है। देहलीदीपकन्याय से सम्यग्ज्ञान का प्रकाश सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र दोनों पर छा रहा है। जैनसिद्धान्त के अनुसार वस्तु अनेक धर्मात्मक है। अत किसी भी पदार्थ का सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित होकर न्यून नहीं अतिरिक्त भी नहीं ऐसा परिज्ञान कर लेना सम्यग्ज्ञान है

जगत मे एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाशद्रव्य, और असंख्याते कालद्रव्य तथा अनन्तानन्त जीव द्रव्य एवं इनसे भी अनन्त गुणे अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य है। एक एक द्रव्य में अनन्तानन्त गुण हैं। एक एक गुण की प्रत्येक समय मे एक एक पयाय हो कर तीनों काल सम्बधी अनन्तानन्त पयायें हैं। भूतकाल की पर्यायें अनन्त हैं। किन्तु उस अतीतकाल के अनन्तानन्त समय बेचारे जीवराशि की संख्या से अनन्तवें भाग थोड़े हैं। वर्तमानकाल एक समय है। हा, भविष्यतकाल के समय तो जीव राशि और पुद्गल राशि से भी अनन्तानन्त गुणे अत्यधिक है। इन सम्पूर्ण काल समयों म प्रत्येक गुण की एक एक पर्याय अवश्य हुई, है, और होवेगी। एक एक पर्याय मे अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद पाये जाते हैं। यों—अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों का समुदाय एक पर्याय है, अनन्तानन्त पर्यायों का पिण्ड एक गुण है, अनन्तानन्त गुणों का समूह एक [illegible] है [illegible] संयुक्त हो रहे अनन्तानन्त द्रव्यों का सचय [illegible]

— इस लोक से

काकाश है। यदि ऐसे अनन्तानन्त अलोकाकाश होते तो वे भी एक केवलज्ञान में झलक जाते। एक सिद्धचक्र में अनन्तानन्त केवल ज्ञानी परमात्मा विराज रहे हैं।

यों सम्यग्ज्ञानी आत्मा को तत्त्वों का यथार्थ रूप से श्रद्धान करना चाहिये।

जैन सिद्धान्त में सख्या के इक्कीस भेद माने हैं। बीसवीं सख्या से गिने गये राजुओं प्रमाण लम्बा, उतना ही चौड़ा, ऊंचा ठीक वर्फी के समान घन चौकोर यह अलोकाकाश है।

अलोकाकाश के ठीक बीच में धर्म द्रव्य से नाप लिया गया लोकाकाश है, लोकाकाश के ठीक बीच में आठ प्रदेश हैं। सम सख्या वाली ऊंची, चौड़ी, लम्बी राशि का बिलकुल ठीक बीच आठ प्रदेश हुआ करते हैं।

परमाणु की आकृति भी आठ कोन और छह पैल वाली बरफी के समान ही है। सबसे बड़े आलोकाकाश और सबसे छोटे परमाणु का व्यञ्जन पर्याय दोनों एक सी हैं।

श्री वीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती "आचार सार" में लिखते हैं कि—

व्योमामूर्तं स्थितं, नित्यं, चतुरस्रं समं घनं।
भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकम् ॥२४॥

"अणुश्च पुद्गलो भेद्यावयवः प्रचयशक्तितः ॥
कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः ॥१३॥

जिनागम में जो नाप तौल लिखी गई है वह सर्वथा सत्यार्थ

है। इसके लिए मेरे पास बहुत प्रमाण हैं। त्रिलोक त्रिकालदर्शी-सर्वज्ञ के आम्नात आगम और स्वानुभव के सामने युक्ति व्यर्थ (फेल) हो जाती है। अल्पज्ञ पुरुषों की युक्तियाँ सदा उत्तीर्ण नहीं हो पाती हैं।

लोग कहते हैं कि 'जिस छत में पानी टपकता है वह छत स्थिर नहीं रह सकती है। कई बार पानी बरसने पर वह गिर पड़ेगी।' किंतु रुड़की का पुल बीसों वर्षों से दिन रात चूता रहता है तो भी दृढ है। बल्कि कोई कोई विशेषज्ञ यों कहते हैं कि जब तक यह चूता रहेगा तभी तक कायम रहेगा। टपकना बन्द हो जाने पर पुल के नष्ट हो जाने की शका है।

एक सुनार ने शकितवृत्ति सेठ के सोने के कड़े बनाये सुनार जानता था कि यह परीक्षा जरूर करेगा। अत उसने ठीक सोने के ठोस कड़े बना दिये। सदिग्ध सेठ ने गुप्त रूप से सुनार की परीक्षा की और अपनी चीज को ठीक पाया। पुन उसी सोने के कड़े बनवाये गये। अब की बार सुनार ने ताँबे की सलाई ठूँस दी। ऐसी अवस्था में युक्ति बेचारी क्या कर सकती है?

अमुक ही देवदत्त का पिता है, इसके निर्णय करने में देवदत्त की माता के सत्यवाक्यों के सिवाय कोई युक्ति नहीं चल पाती है।

आजकल के आगम की अवहेलना करने वाले उन कतिपय मनुष्यों को भी प्रत्यक्ष और अनुमान से असख्य गुणे आगम ज्ञान करने पड़ते हैं।

अखवार पुस्तकों या लोगों के कहने में जो ज्ञान होते हैं वे सब आगम ज्ञानही तो हैं। थोडीसी उम्र में छोटासा मनुष्य बेचारा कहाँ २ जाकर प्रत्यक्ष देख लेगा। मात्र युक्ति को न्यायालय की गद्दी पर बैठा देना अक्षम्य गलती है। तथा चाहे जिसके अटसट अप्रामाणिक वाक्यों को प्रमाण मान लेना भी समुचित नहीं है।

विधवाविवाह को पुष्ट करने वाले लोग कहा करते हैं कि पुरुष जैसे दूसरा, तीसरा, विवाह कर लेता है, उसी प्रकार विधवा स्त्री भी पुनर्विवाह कर सकती है। आर्य समाजी लोग मूर्तिपूजा वालों की खिल्ली उडाया करते हैं। ब्राह्मणों को लेटर बक्स कह कर हँसी उड़ाते हैं। स्वदेशी वस्तु से प्रेम नहीं करने वाला शौकीन आदमी किसी विदेश में बनी हुई घडी को लगाये हुये ज्योतिषीको देखकर उपहास करता है कि भाई तुम तो पीठपर पानी की भरी नाँद को लादकर फिरा करो। क्योंकि पहले स्वदेशी घटा इसी प्रकार जाने जाते थे कि पानी भरी नाँद में छेदवाला कटोरा डाल दिया जाता था, जब वह डूब जाता तो एक घण्टा हुआ समझ लिया जाता था। इत्यादि प्रयोगों के समान कोई कोई मन चले पण्डित जैन धर्म को पार्श्वनाथ के समय से ही प्रारम्भ हुआ मानते हैं। मूर्ति पूजा को आधुनिक (नई प्रचलित) स्वीकार करते हैं। सर्वज्ञकी सत्ता नहीं मानते हैं। यों कतिपय विषयों पर 'आचूडान्त' परिश्रम कर उन्होंने कुयुक्तियों को भी इकट्ठा कर लिया है। किंतु यह सब कथन आपातरम्य है। विचार करनेपर इन मन्तव्यों का शतशः खण्डन हो जाता है।

रूपमण्डूक बुद्धिको छोडकर गम्भीर श्रद्धापूर्ण विचार दृष्टि से काम लेना चाहिये। कुछ लड़के पाश्चात्य सभ्यता की नकल कर यों कहते हैं कि भारतमें चली आरही पुरानी रूढियों में कुछ सार नही है। मूर्ति पूजा, वैवाहिक संस्कार, चौका, शुद्ध भोजन, यज्ञोपवीत, व्रतधारण, दीक्षा, मंगलगीत गाना, कुलीनता इत्यादि सब आचार व्यवहार केवल ढकोसला है। उन अविवेकी शौकीनों को सोचना चाहिये कि विदेशी लोग तो भारत की समीचीन रीतियों को अपना रहे हैं। 'सम्राट् का विवाह कुलीन लड़की के साथ ही होना चाहिये।' 'हिन्दुस्तान का गवर्नर जनरल राजकीय खानदान का होना चाहिये।, यों सदाचार और आध्यात्म विषय की ओर भी उनका लक्ष्य जा रहा है। इधर हमारे भारत के कतिपय सुपुत अप टू डेट होकर भारतीय गुणो पर लात मारकर वैदेशिक कुप्रथाओं के भिखारी बन रहे हैं। माता, पिता, गुरुओ की अवहेलना करते हैं। शास्त्रो पर अटूट श्रद्धा नहीं रखते हैं। जिनपूजा, तीर्थयात्रा, वैवाहिक संस्कार, साधर्मीभ्रातृ भोजन मे उनको व्यर्थ व्यय की गध आ रही है। सबको एकसा मान कर साम्यवाद की बू उनके मस्तिष्क मे चक्कर खा रही है।

भाइयो ! विचारो तो सही, एक रोगी है उसके पास पचास निरोग मनुष्य बैठे हुए हैं, अथवा एक अन्धे के निकट पाचसौ आँख वाले जीव विराजमान हैं, एक नितान्त बूढा पुरुष पचासों युवाओं के सामने अपनी अर्धमृतक सम [illegible] भोग रहा है, ऐसी दशा मे साम्यवाद क्या [illegible] जी

जाना, हीजड़ा होजाना, पशु, पक्षी, कीट, पतग लगड़ा, लूला, दरिद्र, रोगी, धनाढ्य पण्डित, यशस्वी, वीर, स्वामी, सेवक, उत्तमर्ण, अधमर्ण इत्यादि सर्व चमत्कार पूर्वोपार्जित विधि (कर्म) की विडम्बना है।

इसमें बेचारा साम्यवाद या बोलशेविक इज्म क्या मक्ख मारेगा ? कदाचित किसी की स्त्री को बीमारी हो जाती है और किसी अन्य स्त्री का पति बीमार पड जाता है यहां "नष्टदग्धा श्वरथ न्याय" लगा कर क्या कोई दोनों भिन्न दम्पतियों के आराम की व्यवस्था कर देने वाला उदार हृदय कहा जा सकता है ? कभी नहीं।

जगल में दो राजा अपने रथों पर चढ कर गये। एक के घोड़े मर गये, दूसरे का रथ जल गया, तब दोनों ने मिल कर रथ जोड़ा और दोनों घर आ गये। इसको "नष्टदग्धाश्वरथन्याय" कहते हैं।

अत भारत की प्राचीन संस्कृति की परिपूर्ण रक्षा करते हुए हम और आपको सम्यग्ज्ञान का आराधन करना चाहिये॥

अनेकांत

वस्तु को अनेकान्तात्मक जानना सम्यग्ज्ञान है। एक नीति यह कहती है कि—"ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती है" साथ ही दूसरी नीति यह भी प्रसिद्ध है कि—'डूबते को तिनके का सहारा ही भला है।' अवसर पड़ने पर दोनों नीतियों से कार्य होते हुए देखे जाते हैं।

इसी प्रकार "बिन मांग मोती मिलें मांगे मिल न भीख" इस कहावत के माथ ही लगे हाथ यह कहावत भी सफल हो रही है कि "बिना रोये माता भी बच्चे को दूध नहीं पिलाती है।" दोनो के सफल प्रवृत्तिजनक प्रकरणों को बतलाने मे समय बहुत लगेगा। आप विज्ञ लोग सब जानते हैं।

एक बजड़े (बड़ी नाव) में चने की हजार बोरियाँ लाद दी गई हैं। उस बोझ से वह नाव पानी मे एक फुट धसक गई है। अब विचार कीजिये एक तोले पर अस्सी चने चढ़ते हैं, तो सेर भर म चौंसठ सौ चने हुए। ढाई मन की एक बोरी म छह लाख चालीस हजार चने भरे हुए हैं। या पूरी नाव म चौंसठ करोड़ चने लाद गये हैं।

जैनसिद्धांत के अनुसार एक सूच्यंगुल के आकाश प्रदेशों की गणना असख्य कल्पकालों के असख्यातासख्यात समयों से भी असंख्यात गुणी मानी गई है। ऐसी दशा मे नाव में से यदि एक चना भी निकाल लिया जायगा तो नाव जल में से असख्यात प्रदेश ऊपर उठ जायगी। हम तो कहते हैं कि चने को चक्की से बारीक पीस कर उसकी सख्यात कणिकाओं मे से यदि एक कणिका भी छोटा चीमटी स पकड़ कर उस नाव में धर दी जायगी तो मात्र इतने बोझ से वह नाव असख्यात प्रदेश पानी म नीचे धसक जायेगी।

जैन सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक पदार्थ म अनेक धर्म भरे हुए हैं। बाजी मूर्खों ने बाल पकड़ी तेजी मे ऊपर को दौड़ लगा रह

हैं। साठ मील प्रति घण्टे दौड़ रही डाक गाड़ी भी खड़ी हुई है। थोड़ा विचार लेने पर इसका सब रहस्य आपके सामने खुल जायगा।

जब कि बाल छह महीने में एक इंच बढ़ जाते हैं और एक इंच आकाश में छह महीने के समया से असंख्यातासंख्यात गुणे प्रदेश हैं, तो सुतरां सिद्ध हो जाता है कि एक एक समय में मूछों या सिर के बाल असंख्यातासंख्यात प्रदेशों पर दौड़ लगा रहे हैं। उस्तरा को हटा कर पुनः लगाने में जितनी देर लगती है उतने ही क्षण में बाल बढ़ कर निकल आते हैं। इसी प्रकार छकड़ा, घोड़ागाड़ी, मालगाड़ी पैसिंजर, डाक गाड़ी या प्रति घंटे में डेढ़सौ मील चलने वाली मोटरकार इन गाड़ियों की चाल में यदि कोई अन्तर है तो यही हो सकता है कि वे थोड़ा चल कर झट खड़ी हो जाती हैं। उत्तरोत्तर गाड़ियों में खड़े होने का अवसर कम कम मिलता है। अत उनकी फी घंटे की चाल घट जाती है। यदि सभी गाड़ियों का अनुक्षण चलते रहना माना जायगा तो सबकी प्रति घंटा चाल एकसी ठहरेगी। अत बीच-बीच में ठहरना मानना आवश्यक हो जायगा। तब तो डाक गाड़ी का बीच में ठहरना मानना पड़ा।

"अष्टशती" में लिखा हुआ है कि "यावान्त कार्याणि तावन्त प्रत्येक स्वभावभेदा" जिस किसी भी पदार्थ से जितने कार्य हो रहे हैं उतने वास्तविक स्वभाव उसके पेट में घुसे हुये मानने चाहिये।

विष में अनुपात के भेद से मारने और जिलाने वाली दोनों ताकतें हैं। अग्नि उष्णता और शीतता दोनों को पैदा करता है। जल में भी दोनों स्वभाव हैं। "सर्वेषामेव वशात् तेनकत्व स्थित" इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य का उदय पश्चिम दिशा में हुआ माना जायगा।

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति और क्षेत्रों की ह्रास या वृद्धि तथा निश्चयनय अनुसार पदार्थ का स्वरूप में ही स्थिर रहना, इन पहलुओं पर विचार करने से भरत क्षेत्र की कुछ पृथ्वी का नीचे ऊपर लौट जाना भी सिद्धान्त से अविरुद्ध है।

महान् ग्रंथ "श्लोक वार्तिक" में इसका आभास पाया जाता है। लड्डुओं के चारों ओर चींटियाँ आ जाती हैं। यदि लड्डुओं के कटोरदान को पानी में रख दिया जाय तो कोई पगली चींटी भले ही आकर लौट जाय किन्तु बहुत सी चींटियाँ तो अपने घर से ही रवाना नहीं होती हैं। केवल लड्डुओं और पानी में भरे हुए लड्डुओं के परिणमनों में मूल से ही अन्तर है। इस अन्तर का चीटियों को परिज्ञान है।

'एक सुरेन्द्र नामक बंगाली कहता है कि "बंगाली सब झूठे होते हैं" इस वाक्य का अर्थ यह भी निकल जाता है कि "बंगाली सब सच्चे हुआ करते हैं" क्योंकि देखिये सुरेन्द्र भी बंगाली है उसका— 'बंगाली झूठे होते हैं" यह कहना भी झूठा पड़ गया। तब तो इस वाक्य से "बंगालियों का सच्चा होना" अर्थ आ टपका।

अन्त में यही कहना पड़ता है कि जगत के सम्पूर्ण पदार्थों में अनेक धर्म तदात्मक होकर अनुप्रविष्ट हैं।

" सिद्धिरनेकान्तात "

स्याद्वाद

वस्तु के अनेक धर्मों की भित्ति पर स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार शब्द योजना करली जाती है। अस्ति-नास्ति, नित्यत्व अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि विधि प्रतिषेधात्मक धर्मों द्वारा अनेक सप्तभंगिया बना ली जाती हैं। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है, अनन्तानन्त है और सप्तभंगिया का क्षेत्र व्याप्य है। वस्तु की भित्ति पर स्वाभाविकी योग्यता और संकेत के वश से वाचकत्व शक्ति को लिये हुए शब्द जगत् में मध्यम मध्यारूप हो रहे परिगणित हैं। मुक्त जीव सुखी हैं पुद्गल रूपवान है, जीववध से पाप होता है, धर्म अहिंसा लक्षण है, आकाश सब को अवकाश देता है इत्यादि प्रयोगों में सप्तभंगी नहीं लगाना चाहिये। प्रमाण और नय की अपेक्षा से अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक है। समीचीन एकान्त जैनों को इष्ट हो रहे हैं।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि सम्पूर्ण पदार्थ स्व को पकड़े रहने और पर को त्यागने में सदा उद्यत रहते हैं। सिद्ध भगवान को भी यह कार्य अगुरुलघु गुण द्वारा यह पुरुषार्थ से करना पड़ता है। यों अस्तित्व के साथ अनेक नास्तित्व के अक्षुण्ण बने रहने पर पदार्थों का जीवन स्थिर रहता है।

मोक्ष करने या पढ़ाने के स्थान पर सर्प, सिंह आदि के अभावों को बनाये रखना पड़ता है। यदि किसी भी प्रतिबन्धक के अभाव की लापरवाही की गई तो फण उठाये हुए काला सर्प या मुँह फाड़े हुए सिंह उसी समय वहां आ धमकेगा।

अत्यन्ताभाव, ध्वंस या मृत्युओं का बना रहना आवश्यक है। यदि पाँच-सौ वर्ष ही पहले के कब्रिस्तान मुर्दाघाटों या श्मशानों को जगा लिया जाय तो आजकल के मनुष्यों के ठहरने के लिये एक अंगुल स्थान और खाने के लिये एक दाना भी नहीं मिल सकेगा। अतः हजारों वर्ष पहिले के पुरुषाओं को मृत्यु की अवस्था में ही बना रहने दिया जाय। इस पर खुशी मनाओ, वे अपना भवपरिवर्तन कहीं भी करें करने दो।

इस अस्ति नास्ति के परिवार का विवेचन बहुत गम्भीर है पुनः कभी देखा जायगा, अलं विस्तरेण। अस्ति-नास्ति धर्मों का वस्तु की भित्ति पर किया गया विचार ही अष्टसहस्री ग्रन्थ की महत्ता का उद्योतक है।

सम्यक् चारित्र

बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग क्रियाओं का निरोध कर आत्मा का अपने आप में ही स्थिर हो जाना चारित्र है। ऐसे निश्चय चारित्र को प्राप्त करने के लिये व्यवहार चारित्र का पालन करना अनिवार्य है। व्यवहार चारित्र का पालना तत्काल आनन्द स्वरूप है, सब ओर से मीठा है। उसको मैं कह चुका हूँ।

विषयानुरागी जीवों ने इन्द्रियों के भोग, उपभोगों में ही अपनी शक्तियों को क्षीण कर रक्खा है। थोड़ा सा विचार करने पर मालूम हो जाता है कि इन्द्रियाँ अनिष्ट से बचने के लिये हैं। स्पर्शन इन्द्रिय कोमल शरीर वाले जीवों की रक्षा के लिये है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जीवों का स्पर्श होते ही झट उनकी

लिये प्रयत्नशील हो जाना चाहिये। रसना इन्द्रिय भी अनिष्ट, अनुपसेव्य, अभक्ष्य पदार्थों से बचने के लिये हैं। घ्राण इन्द्रिय द्वारा जीवों का परीक्षण कर उनकी रक्षा करना चाहिये। पशु पक्षी घ्राणेन्द्रिय से बहुत काम लेते हैं। चक्षु इन्द्रिय द्वारा कांटे व गड्ढा आदि से बचते हुए अन्य जीवों की रक्षा करते रहना चाहिये। देवदर्शन, स्वाध्याय करने में चक्षु का व्यापार होना चाहिये। कर्ण इन्द्रिय से शास्त्र श्रवण, जिन गुण श्रवण करना चाहिये।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि विषय लोलुपी जीवों ने पाचों इन्द्रियों का दुरुपयोग कर रक्खा है। इनसे तो बन्दर, कुत्ता, घोड़ा, बैल गाय, भैंस, तोता, मैना आदि तिर्यञ्च जीव ही अच्छे हैं जो कि ज्ञान इन्द्रिया और कर्म इन्द्रियों से यथायोग्य यथाकाल विचार पूर्वक कार्य कर रहे हैं। एक विद्वान ने कहा है—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हता पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेव्यते पञ्चभिरेव सद्य.॥

केवल एक २ इन्द्रिय के वश होकर हाथी, मछली, भौंरा, पतंग, हिरण इन जीवों ने अनेक कष्ट उठाये हैं, जो विषयी मानव पांचों इन्द्रियों द्वारा भोग कर रहा है उसकी कष्ट कथा का निरूपण कहां तक किया जा सकता है?

मैं पहिले कह चुका हूँ कि ये इन्द्रियों द्वारा किये गए भोग, भोग ही नहीं हैं, दद्रु रोगी के दाद खुजाने के समान या कीट पतंगा की प्रवृत्ति के समान मिथ्यावासनाजन्य भवबर्धक

कल्पित प्रवृत्तियाँ हैं। शुभचन्द्र आचार्य के छोटे भाई भर्तृहरि ने जो कि बाद में जैन हो गए थे, बहुत अच्छा कहा है कि—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

"भोगों को हमने नहीं भोगा किन्तु भोगों ने ही हमें चाट कर मटियामेट कर दिया है। स्पर्शन इन्द्रिय के विषय या रसना द्वारा अधिक नमक मिर्चे या तीव्र स्वभाव वाले तेजायी पदार्थों का खाना, अट-सट तेल, फुलेल, इत्र, सैन्ट आदि को घ्राण इन्द्रिय से सूंघना, रागवर्धक वस्तुओं को नेत्र इन्द्रिय से देखते रहना, शृंगार वर्धक सगीतों को कानों से सुनना, मन से बुरे संकल्प विकल्प करना, इन नाम मात्र के भोगोंने जीवों की शारीरिक, मानसिक आत्मीय उन्नतिया का विनाश कर उनको खा डाला है। यह किसी भी विषयानुरागी जीव से छिपा हुआ नहीं है। हम जिसको भोगने के लिये तैयार हुए हैं उसीने हमको भोग डाला।"

जरा सोचने पर ज्ञान होगा कि "मनुष्य पर्याय को पाकर हम तपश्चरण करने के लिए आये थे। किन्तु विषयों में फसकर तप को नहीं कर सके और विषयो की ज्वालाओं से खाक और सतप्त कर दिये गये है।"

वर्तमान बेकारी के युग में धनाढ्य, मध्यमस्थिति और गरीब स्थिति के मनुष्य सभी सतापित हो रहे हैं। इन्द्रियजनित पीड़ाओं के अन्तरङ्ग, बहिरग सतापों का तो कोई ठिकाना ही नहीं है।

तीसर पाद में कवि कहते हैं कि "काल नहीं बीता कि

ही बीत गये। इनको उत्तरोत्तर क्षण, दिन, मास, वर्ष यदि भूत के गर्भ मे चले जारहे हैं, इससे हमारी क्या हानि हुई ? यदि काल जल्दी जारहा है तो लाओ उसमें दो लातें और लगादें ताकि और द्रुतगति से जल्दी बीत जाय। किन्तु दुःख इस बात का है कि भूतकालों में जो हमारे परिणमन थे, व यों ही निकल गये। व बाल्य, कुमार, युवा अवस्था की लीलायें लावण्य, सुन्दर छुहक सब चली गयीं, वे लौट कर अब नहीं आती हैं इसका अनुताप है। अथवा जिन व्यवहारकालों मे हमको विशुद्ध आचरण करना चाहिये नेकनीयत, ईमानदारी, सदाचार, तपश्चरण, परोपकार मे काल बिताना चाहिये था वह समय यों ही व्यर्थ के टटों म बीत गया, बीता जारहा है।" "क्षेत्र और अनुकाल तथा पदार्थ परणतियों के अनुसार यतना द्वारा किय गये द्रव्य परिवर्तनों को व्यवहारकाल कहते हैं।"

चौथ पाद अनुसार "हमारी तृष्णा बुड्ढी नहीं हुई किन्तु हम बुड्ढे होगये।" यह सुकवि का तात्पर्य है कि पहिले जमाने मे जैसे सन्तोषी पुरुष होते थे, वैसे अब नहीं हैं। यह इस युग की खूबी है।

बड़े २ रईसों से हमने सुना है, व कहते हैं 'हमारे पुरखाओं के पास सिर्फ दो अगरखिया रहती थी। कहीं जाना होता तो बसना मे स एक अ गरखी निकाल कर पहिन जाते थे और वहा से आकर झट उसको सुरक्षित रख देते थ। उनके शरीर शर्बती गहूं के समान लाल पड रहे थे। पुष्कल अन्न, दूध, घृत से घर भरपूर होरहे थ।" अब छोटी मामूली स्थिति के आदमियों के पास

भी साधारणतया रद्दी कपडे पाये जाते हैं। चाहे छन्ना मैला हो या फटा हुआ हो अथवा कभी कभी नाक पोंछने के रूमाल से ही छन्ने का काम ले लिया जाता हो। आज कल लोग टीपटाप को पसन्द करते हैं। असली दूध, घी, आटे का मिलना दुर्लभ हो रहा है। एक श्रावक सयमी का भोजन कराना भी मुश्किल हो रहा है। अपने और बच्चों की शिक्षा मे खर्च नहीं किया जाता है। व्यर्थ के व्यय बहुत बढ़ा लिए हैं। इन्हीं कारणों से कन्या-विक्रय, वरविक्रय आदि कुरीतियों का बाजार गर्म है।

यदि हम लोगों का खाना पीना, पहिरना शुद्ध हो, परिमित हो, अल्प व्यय साध्य हो तो कभी पापाचार मे प्रवृति नहीं हो सकती है। देश काल की परिस्थिति का अध्ययन करने से प्रतीत हो जाता है कि कतिपय वर्षों मे सेठ लोग या जमीदार अधिक अमीर नहीं रह सकेंगे, साथ ही गरीब आदमी इतने विपत्तिग्रस्त भी नहीं रह सकेंगे। इसको गांठ बाँध लो तथा चलते हाथ पावों अपना और देश का उद्धार करो। वैश्य वर्ग और विशेषतया जैन मंडल का क्या कर्तव्य होना चाहिये ? इसका आप स्वयं विचार कर सकते हैं।

प्रकृति प्रत्येक जीव को दान करने के लिये अनेक अवसर देती रहती है। इस पर भी यदि लोभी जीव धर्म और यश की प्राप्ति के मौके को चूक जाता है तो प्रकृति उससे धन छीन लेती है। अत उदार पुरुषों को अपने धार्मिक स्थानों मे दान देकर धन का सदुपयोग करना चाहिये। "दानयजनप्रधान श्रावकः" दान देना और पूजन करना श्रावक का मुख्य कर्तव्य है।

एक समय की घटना है कि राजा भोज को प्रत्येक श्लोक पर विद्वानों के लिए एक एक लाख रुपया देते देखकर खजाना खाली हो जाने के भय से मौखिक कहने की सामर्थ्य नहीं रखने वाले भंडारी ने कोष्ठागार (खजाना) के द्वार पर लिख दिया कि "आपदर्थे धन रक्षेत्" अर्थात् आपत्ति काल के लिए धन की रक्षा करना चाहिए।

राजा ने मन्त्री का भाव समझ कर उसके आगे लिख दिया कि "श्रीमतां कुत आपदः" भाग्यवानों को आपत्तियाँ कहाँ से आ सकती हैं? तात्पर्य यह है कि पुण्यशालियों के ऊपर विपत्तियां नहीं आती हैं।

पुनः अर्थसचिव लिखता है कि "कदाचिद्दैवात्समायाति" यदि दैव (भाग्य) से कभी आपत्ति आ जाय इसका समाधान कर राजा लिखता है कि 'संचितोऽपि विनश्यति" अर्थात् आपत्ति आने पर तो संचित किया धन भी नष्ट हो जाता है। यह दृष्टान्त सर्वथा ठीक है।

हमारे गुरुवर्य पूज्य महात्मा पंडित गोपालदास जी कहा करते थे कि—

"पुण्यानुसारिणी लक्ष्मी, कीर्तिर्दानानुसारिणी।
अभ्याससारिणी विद्या, बुद्धिः कर्मानुसारिणी॥"

पूर्व जन्म में उपार्जित किये गए पुण्य के अनुसार ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। विद्यादान या धनदान से कीर्ति बढ़ती है। जितना अभ्यास किया जाय उतनी ही विद्या बढ़ेगी। लोक में जैसे कर्म किए जाते हैं वैसी ही बुद्धि हो जाती है।

आजकल अनेक जन धन की प्राप्ति के लिए मन्त्र जपते हैं, और भी कितनी मान्यतायें मनाते हैं, किन्तु वे सफल मनोरथ नहीं हो पाते हैं। उनको हृदय में यह श्रद्धा धारण कर लेना चाहिये कि लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही धन मिलेगा, अन्य उपायों से नहीं।

आजकल के गृहस्थ भी कैसे भोले हैं कि जिन धार्मिक क्रियाओं मे पुरुषार्थ करना चाहिये था वहा तो दैव की आड़ पकड़ लेते है, कि भाई हम क्या करें ? पूजन करना, व्रतधारण करना, तीर्थ यात्रा करना, शास्त्र सुनना, हमारे भाग्य मे नहीं लिखा है। तथा जहा दैव की करतूत है वहाँ धन प्राप्ति सुख लाभ आदि में व्यर्थ पुरुषार्थ कर रहे हैं। इन सब बातों का लक्ष्य कर हमको यथा प्राप्त पदार्थों को दान व्यवस्था के साथ सतोष पूर्वक भोगना चाहिये। गृहस्थ मनुष्य न्याय पूर्वक भोगों को भोगता है, किन्तु उसमें अत्यासक्ति नहीं रखना चाहिये।

हमने अनुभव किया है कि पहले ही से न्यौता देकर किसी आगामी भोग की गृद्धि रक्खी जाती है तो उसमें छोटे मोटे अनेक विघ्न आ जाते हैं। उस (खुशी मालिक) उत्साह पूर्वक आनन्द नहीं ले पाते हैं। इतना निर्दोष पुण्य हमारे पास नहीं है। हाँ, यदि भोगों के भोगने में उपेक्षाभाव रक्खे जाँय तो विघ्न कम आते हैं। राग द्वेष की कमी हो जाने से पापास्रव भी कम होता है। यों हित अहित का विचार कर हमको आचार की शुद्धि करने के लिये कटिबद्ध रहना चाहिये।

सातिचार पालन और मद्य मास, मधु का त्याग यों स्वामी जी के मतानुसार आठ मूलगुण माने गये हैं। श्री समन्तभद्र आचार्य का बनाया हुआ रत्नकरण्ड श्रावकाचार सम्पूर्ण श्रावकाचारों में अग्रगण्य है। उसमें १-त्रसघात २-बहुघात, ३ अनिष्ट, ४ अनुपसव्य और ५ मादक ये पाँच अभक्ष्य माने गये हैं। २२ अभक्ष्यों की तो ठीक ठीक गणना ही नहीं हो पाती है। उन में सम्पूर्ण अभक्ष्यों का अन्तर्भाव भी नहीं हो पाता है। अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष आते हैं।

अतः स्वामी जी और श्री अकलङ्कदेव के मन्तव्य के अनुसार जिन में त्रसों का घात होता हो, ऐसे मद्य मांस, मधु आदि पदार्थ अभक्ष्य हैं। और जिन में बहुत से स्थावरों का विनाश होता हो ऐसे कन्दमूल, काइ आदि पदार्थ खाने योग्य नहीं हैं।

अपनी अपनी शारीरिक प्रकृति के विरुद्ध पड़ने वाले पदार्थ भी अनिष्ट होने के कारण अभक्ष्य हैं। जो लोकनिन्द्य या व्यवहारनिन्द्य हैं अथवा जिन प्रासुक पदार्थों में भी मास रक्त आदि की कल्पना सभव हो वे अनुपसेव्य पदार्थ अभक्ष्य हैं। तथा प्रासुक भी भाँग, धतूरा आदि मादक पदार्थ अभक्ष्य हैं।

श्रीसमन्तभद्राचार्य जी के मतानुसार १ भोजन २ वाहन ३-शयन ४-स्नान ५-पवित्राँगराग ६-कुसुम ७-ताम्बूल ८-वस्त्र ९-भूषण १०-काम सेवन ११-सगीत १२-गीत इस प्रकार बारह नियमों को करने कराने की आज्ञा है।

आजकल सचित्त विषय की कुछ चर्चा चल रही है। मन्थावलोकन से प्रतीत होता है कि वृक्ष से तत्काल टूटे हुए शाखा, पत्र,

पुष्प आदि भी सचित्त हैं। जब तक व सूखें नहीं, या अग्निपक्व नहीं होवें, तब तक उनमें वृक्षजीव से अतिरिक्त असख्य वनस्पति काय के जीव माने गये हैं। छने हुए जल मे भी जल काय के जीव विद्यमान हैं जो सुई के अग्रभाग पर असख्यात जीव आ जाते हैं। बहुभाग एकेन्द्रिय जीव दृष्टि से अगोचर हैं उनका आगम द्वारा निर्णय करना पड़ता है। वृक्ष, अकुर आदि का प्रत्यक्ष हो रहा है।

स्वाती से पूछो कई वृक्षों में पथरी पड़ जाती है। यों वृक्ष मे वनस्पतिकायिक जीव हैं। और काठ के भीतर हो रही लकीर सी पथरी मे पृथ्वी कायिक असंख्यात जीव हैं। कच्चे नारियल मे वनस्पतिकायिक जीव हैं किन्तु उसके भीतर भरे हुए पानी मे जलकायिक जीव हैं। बिजली के तारों मे बिजली का करेण्ट बह रहा है तब तक वह अचित्त है पर बटन दबाने पर बल्ब मे झट तैजसकायिक जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा बटन उठाते (घुमाते) ही वे सब मर जाते हैं।

भारी या भ्रमरी अपने मिट्टी के घर मे द्वीन्द्रिय गिडारो या चौइन्द्रिय झींगुरों, अगफुर्दों को पकड कर धर लेती हैं, डंक मार मार कर उन्हें मार डालती है, पुन भों भों शब्द करती है। काला न्तर म मरा हुआ उन लटो का शरीर ही चौइन्द्रीय भौंरी रूप हो जाता है। इसी प्रकार चीटियाँ, बर्रें, ततैया य भी जीवों को पकड़कर अपनी विशेष प्रक्रिया द्वारा उनको स्वजातीय स्वरूप बना लेते हैं। पूर्व अवस्था के जीव मर जाते हैं उनका कलेवर ही अन्य जीवों का सम्मूर्छन शरीर बन जाता है। घण्टों इस जीव ... को देखा है।

सुपारी के भीतर चौइन्द्रिय मकडी पैदा हो जाती है। दूने हुए चन गेहुओं म द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि जीव उत्पन्न हो जाते हैं। जीवों की उत्पत्ति के यानिस्थानों पर तर्क न ीं चलती है। किस निमित्त स क्या नैमित्तिक कार्य उपज जाता है ? क्या नष्ट हो जाता है इसका अध्ययन असंख्य वर्षों में भी पूरा नहीं हो पाता है। ऊंट के मुह मे जाकर बबूल, कनेरी के तीक्ष्ण काटे हलुआ हो जाते है। चक्रवर्ती की स्त्री का शरीर मक्खन से भी अधिक कोमल होता है, चक्रवर्ती जब दिग्वजय करके आता है तब हाथ से रत्नों का चुरा कर चौक पूरती है। बच्च वाली स्त्री गाय,भैंस या बकरी के थनों म पाव सर, सर, दो सेर, चार सेर दूध पाया जाता है। किंतु कहा जाता है कि सूहरी क स्तना में रत्ती भर भी दूध तैयार नहीं रहता है। सूहरी के दस बारह बच्चे पैदा होते हैं। व दूध पी पीकर फुटवाल सरीखे बड़े पुष्ट भी होते देखे गय हैं। कहना यह है कि बच्चे का मुह लगाते ही सूकरी के स्तन म तत्काल दूध बन जाता है। बच्च के हटते ही वहाँ कुछ नहीं, चाहे स्तन को चीर डालो दूध की एक बूद भी नहीं मिलेगी।

शरीर में रक्त, माँस, चर्बी, हड्डी, मल, मूत्र विद्यमान रहते हैं किन्तु आसु ओ का एक बिन्दु भी कहीं रक्खा हुआ नहीं है। शोक या हर्ष अथवा नेत्र की पीडा के निमित्त मिल जाने पर तत्काल रक्त या रस से आँखोंम आँसू तैयार होजाते हैं। निमित्त नैमित्तिकों का रहस्य अचिन्त्य ह।

मंत्र तंत्र या ऋद्धि सिद्धि में भा नियत कार्य कारणभाव है।

कोई पोल नहीं है। जैनियों के यहाँ कार्यकारण भाव का भंग कर कोई अतिशय नहीं माना गया है। अन्त प्रविष्ट होकर निरीक्षण करो जिनागम में सब बातें लिखी हुई हैं।

जिनवाणी

प्रत्येक गृहस्थको जिनवाणी माता का स्वाध्याय करना चाहिये शास्त्र चारों में लिखा है कि "न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुत देवयोः" 'जिनवाणी माता और जिनेन्द्र में कोई अन्तर नहीं है। भाव और भाववान में अभेद है। आजकल संसार तापों से उन्मुक्त करने वाली यह जिनवाणी ही है। जिनागम में सम्पूर्ण विद्यायें कलाएं पाई जाती हैं। अन्य दर्शनों में भी जो कुछ अच्छी बातें हैं वे सब जिनागम से ही लेली गई हैं। श्री अकलंकदेव राजवार्तिक में लिखते हैं—

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु,
स्फुरन्ति याःकाश्चन सूक्तिसम्पदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता,
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥

इसका तात्पर्य यह है कि—जो भी कुछ अन्य मतों में अच्छी उक्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं वे सब जिनागम से उठा ली गई हैं। भगवान् समन्तभद्राचार्य ने भी "आप्तमीमांसा" के अन्त में लिखा है कि—

जयति जगति क्लेशावेश प्रपञ्च हिमांशुमान्
निहत विषमैकान्त ध्वान्त प्रमाण नयांशुमान्

यतिपतिरजो यस्या धृष्टान्मताम्बुनिधेर्लवान्।
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नानापरे समुपासते ॥

वह जिनागम समुद्र जयवन्ता रहे। जिसके कि एक-एक बिन्दु को लेकर अनेक दार्शनिक अपना अपना मत बखानते हुए उसी जिन शासन की उपासना कर रहे हैं। जिनागम के समान हमारा कोई उपकारी नहीं है। जिनागम यही उपदेश देता है कि 'व्यर्थ के संकल्प विकल्पों का त्याग कर वीतरागविज्ञानमय आत्मा पर दृष्टि रखना चाहिए' यह सर्वोत्तम चारित्र है।

आजकल के पंचम कालीन गृहस्थों में यह बड़ा रोग घुस गया है कि वे व्यर्थ के संकल्प विकल्पों से दिन रात भरपूर रहते हैं। यों करेंगे, त्यों करेंगे, उसको हानि पहुंचायेंगे, विवाह के लिए पैसा कहाँ से लावें? कपट करें इत्यादि विचारों से महान् पाप बंध होता रहता है। ग्राम या शहर में गाड़ी की खड़खड़ाहट, रेलगाड़ी की सीटी, लोगों के लड़ाई झगड़े, रद्दी गाने बजाने, इन सब का तुम्हारी आत्मा पर गहरा असर पड़ता है। जंगल में रहने वाले मुनि इन अनेक झंझटों से बच जाते हैं। पढ़े लिखे शौकीन आदमी अखबार-उपन्यास पढ़ने व सिनेमा-नाटक देखने आदि में अपनी शक्तियाँ नष्ट करते हैं। अखबारों में लिखा रहता है उस नदी में नाव डूब गई, उस मिल में आग लग गई, वहाँ डाका पड़ गया, इन विस्मयोत्पादक समाचारों को पढ़कर उनके मस्तिष्क का बेड़ा भी डूब जाता है। शुभ भावों में आग लग जाती है। उत्साहों पर डाका पड़ जाता है। मैं कोई समाचार पत्र या

अच्छी पुस्तकों के पढ़ने का विरोध नहीं कर रहा हूँ। किंतु व्यर्थ दुष्कर्म बंध के कारणरूप भ्रष्ट साहित्य से अपने छोटे से मस्तिष्क को भर लेने का मैं विरोधी हूँ।

रात्रिभोजन त्याग

हिन्दुओं और मुसलमानों का बहुत साथ बना रहने से हम जैन लोगों में रात्रिभोजन का देखा देखी असर आगया है। विज्ञान वेत्ताओं ने भी सिद्ध कर दिया है कि रात्रि के भोजन से दिवा भोजन का परिपाक बहुत अच्छा होता है।

रात्रि में भोजन करने वालों को हिंसा बहुत लगती है। सागर धर्मामृत में लिखा है कि—

त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य राम,
लिप्ये वधादिकृतपैस्तदिति श्रितोपि।
सौमित्रि रन्यशपथा न्वनमाल यैकं,
दोषाशिदोषशपथ किल कारितोऽस्मिन्।

पद्मपुराण की कथा है कि—फाँसी लगाकर मरने को तैयार वनमाला को अकस्मात अपने अभीष्ट प्रिय लक्ष्मण का समागम हो जाता है। वनमाला साथ चलने का आग्रह कर रही है। लक्ष्मण कहते हैं कि पूज्य भाई, भौजाई को अच्छे निरापद स्थान पर विराजमान कर पुन तुम को लेने के लिए यदि मैं नहीं आऊ तो हिंसा, झूठ इत्यादि पाप करने के दोष से मैं लिप्त हो जाउ। इस प्रकार-लक्ष्मण की कई शपथों से

सतोष नहीं हुआ तब अन्त में लक्ष्मण ने रात्रि भोजन के दोष लग जाने की सौगंध खाई, तब वनमाला ने जाने दिया। बात यह है कि रात्रि भोजन त्याग हमारा चिन्ह है, चिन्ह या चपरास को किसी भी हालत में नहीं छोड़ना चाहिए। जल छानने के लिए २४ × ३६ अगुल के छन्ना रखने मे भी यही सिद्धान्त लागू किया जाय।

सेवा धर्म

एक बात हमको स्वयसेवको से भी कहना है कि वे तत्त्वार्थ सूत्र में कहे हुए दश धर्मों का पालन करते हुए निःस्वार्थ सेवा करें। ससार में कार्यक्षेत्र बहुत पड़ा हुआ है अपने सख या सवस्व की भी परवाह न कर वे परोपकार में रत्त हैं यह सौभाग्य का अवसर है। परोपकार करना हमारा कर्त्तव्य है मध्य म किसी को लाभ हो जाय तो हमें क्या ? देखो रोटी, कपडा, गहना, कितनी तकलीफ भुगतते हैं तब कहीं हमको थोड़ा सुख पहुचाते है। पिसना, कुटना, मदना, तवे के ऊपर आँच पर चढ़ना ये सब रोटी की तकलीफें प्रसिद्ध हैं। कपास की हालत से रुइ धुनना सूत बुनना, हजारों सुइयें चुभना आदि की अ[illegible] की आप को परिज्ञात हैं। गहने को कितनी दार[illegible] है, आग में घुसाना पड़ता है, यह किसी से[illegible] यही कह सकते हैं कि ये पदार्थ जड हैं[illegible] ज्ञान नहीं होता है। फिर भी आपको[illegible] हैं। कीर्त्ति की अभिलाषा नहीं करके

ऐसा धर्म का फल तत्कालीन आनन्द अनुभव है एक कवि ने कहा है कि—

> यद्यपि कीर्तिः कन्या दुर्वार उहति कौमार ।
> सद्भ्यो न रोचते सा सन्तस्तस्यै न रोचन्ते ॥

कीर्ति नामक कन्या अभी तक कुमारी ही है। क्योंकि वह सज्जनों को चाहती है किन्तु सज्जन उसे नहीं चाहते हैं। हां, दुर्जन उसको चाहते हैं किन्तु कीर्ति उनको नहीं चाहती है। वस्तुत देखा जाय तो किसी को भी धार्मिक या सामाजिक कार्यों को करते हुए यश प्राप्ति का लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। यदि पुष्प में सुगन्ध होगा तो वह वायु द्वारा अवश्य चारों ओर फैल जायगी। अपना एक टक लक्ष्य उसी स्वपरोपकार करने में लगा रहना चाहिये। प्रथम विचार पूर्वक अपना लक्ष्यमार्ग निर्णीत करलो, पुन उसके पीछे पड़ जाओ। अवश्य निश्रेयस प्राप्त होगा।

एक अवसर पर द्रोणाचार्य ने धनुष विद्या को सीखने वाले अपने शिष्यों की परीक्षा ली। वृक्ष की ऊंची टहनी पर एक इलायची बाध दी गई। गुरु द्रोणाचार्य जी ने दुर्योधन से कहा कि कहाँ निशाना लगाओगे? और दुर्योधन कहता है कि गुरु जी वृक्ष पर मोटी शाखा है, उससे एक छोटी शाखा और निकली है छोटी शाखा में टहनी है, उसपर इलायची लटक रही है वहीं बाण छोड़ूंगा। द्रोणाचार्य ने कहा कि परीक्षा हो चुकी, तुम स्थूल बुद्धि हो। फिर दो चार छात्रों से कहा गया परन्तु सतोषजनक उत्तर नहीं मिला। जब अर्जुन से यह कहा गया बेटा! कहां बाण छोड़ोगे?

संतोष नहीं हुआ तब अन्त में लक्ष्मण ने रात्रि भोजन के दोष लग जाने की सौगंध खाई, तब वनमाला ने जाने दिया। बात यह है कि रात्रि भोजन त्याग हमारा चिन्ह है, चिन्ह या चपरास को किसी भी हालत में नहीं छोड़ना चाहिए। जल छानने के लिए २४×३६ अगुल के छन्ना रखने म भी यही सिद्धान्त लागू किया जाय।

सेवा धर्म

एक बात हमको स्वयसेवकों से भी कहना है कि वे तत्त्वार्थ सूत्र में कहे हुए दश धर्मों का पालन करते हुए निःस्वार्थ सेवा करें। संसार में कार्यक्षेत्र बहुत पड़ा हुआ है अपने सुख या सवस्व की भी परवाह न कर ये परोपकार में रत है यह सौभाग्य का अवसर है। परोपकार करना हमारा कर्त्तव्य है मध्य में किसी को लाभ हो जाय तो हमें क्या ? देखो रोटी, कपड़ा, गहना, कितनी तकलीफ भुगतते हैं तब कहीं हमको थोडा सुख पहुचाते हैं। पिसना, कुटना, मढ़ना, तवे के ऊपर आँच पर चढना ये सब रोटी की तकलीफें प्रसिद्ध है। कपास की हालत से रुई धुनना सूत बुनना, हजारों सुइयें चुभना आदि की अवस्थायें कपड़े की आप को परिज्ञात हैं। गहने को कितनी बार कटना पिटना पड़ता है, आग में घुसाना पड़ता है, यह किसी से छिपा नहीं है। आप यही कह सकते हैं कि य पदार्थ जड है, इनको तकलीफ या ज्ञान नहीं होता है। फिर भी आपको शिक्षा देने के लिए पर्याप्त हैं। कीर्ति की अभिलाषा नहीं करके अपने काम में अड़े रहो

इस धर्म का फल तत्कालीन आनन्द अनुभव है एक कवि ने कहा है कि—

यद्यपि कीर्तिः कन्या दुर्नार वहति कौमार ।
सद्भ्यो न रोचते सा सन्तस्तस्यै न रोचन्ते ॥

कीर्ति नामक कन्या अभी तक कुमारी ही है। क्योंकि वह सज्जनों को चाहती है किन्तु सज्जन उसे नहीं चाहते हैं। हा, दुर्जन उसको चाहते हैं किन्तु कीर्ति उनको नहीं चाहती है। वस्तुत देखा जाय तो किसी को भी धार्मिक या सामाजिक कार्यों को करते हुए यश प्राप्ति का लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। यदि पुष्प में सुगन्धि होगी तो वह वायु द्वारा अवश्य चारों ओर फैल जायगा। अपना एक टक लक्ष्य उसी स्वपरोपकार करने में लगा रहना चाहिये। प्रथम विचार पूर्वक अपना लक्ष्यमार्ग निर्णीत करलो, पुन उसके पीछे पड़ जाओ। अवश्य निश्रेयस प्राप्त होगा।

एक अवसर पर द्रोणाचार्य ने धनुष विद्या को सीखने वाले अपने शिष्यों की परीक्षा ली। वृक्ष की ऊँची टहनी पर एक इलायची बांध दी गई। गुरु द्रोणाचार्य जी ने दुर्योधन से कहा कि, कहाँ निशाना लगाओगे ? और दुर्योधन कहता है कि गुरु जी वृक्ष पर मोटी शाखा है, उससे एक छोटी शाखा और निकली है, छोटी शाखा में टहनी है, उसपर इलायची लटक रही है वहीं बाण छोड़ूगा। द्रोणाचार्य ने कहा कि परीक्षा हो चुकी, तुम स्थूल बुद्धि हो। फिर दो चार छात्रों से कहा गया परन्तु सतोषजनक उत्तर नहीं मिला। जब अर्जुन से यह कहा गया बेटा ! कहाँ बाण छोड़ोगे ?

अर्जुन कहता है कि गुरु जी शीघ्र आज्ञा दीजिये, मुझे इलायची ही इलायची दिख रही है और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। गुरु जी ने बाण चलाये बिना ही अर्जुन को परीक्षोत्तीर्ण कर दिया। इसी प्रकार मुनीश्वरों का जब आत्मा की ओर ध्यान लग जाता है तो उनको परीषहों—उपसर्गों का संवेदन ही नहीं हो पाता है।

तकलीफ को तकलीफ समझ कर सहना जघन्य पद है तकलीफ को सुख समझ कर सहना मध्यम दर्जा है, किन्तु तकलीफ का ज्ञान ही नहीं होना सर्वोत्तम श्रेणी है।

अन्त में मेरा यही निवेदन है कि आप लोग पुरुषार्थपूर्वक कषायों के ऊपर विजय प्राप्त करें। क्षमा शस्त्र लेकर क्रोध के ऊपर ही क्रोध कीजिये। "अतृणे पतितो वह्नि वह्निरयमेवोपशाम्यति" मार्दव भावों से अभिमान का निग्रह करो और आर्जव पद्धति से कपट का मुंह काला करो, उदारता करके लोभ को जीतो, मनुष्य पर्याय पाकर यही सबसे बड़ा बढ़िया सौदा किया समझो। किसी सट्टे में एक रुपया से दस, बीस रुपये मिल जाते हैं किन्तु धर्म के लिए बाजी लगाने पर तो असंख्यात गुणी विशुद्धि और असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है। इस अनुपम लाभ पर ध्यान दीजिए।

कुरीतियां

व्यर्थ व्यय, बालविवाह, वृद्ध विवाह, कन्या विक्रय, वर विक्रय, वेश्या नृत्य, व्यर्थ के लड़ाई झगड़े आदि कुरीतियों का कहा

क विवेचन करें आप इनके दोषों को स्वय जानते ही हैं । सभी को इन दुष्कृत्यों का परित्याग करना चाहिय । इस प्रकार अतीव दुर्लभ इस मानव पर्याय को पाकर धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करते हुए सद् गृहस्थों को शुभ भावों द्वारा वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति के लिए पट् आवश्यकों का पारपालन करत रहना चाहिए । आर्त रौद्र ध्यान का परित्याग कर धर्म ध्यान की परिपक्वता को बढ़ाने से उत्तर जन्मो मे शुक्ल ध्यान द्वारा परम निश्रेयस प्राप्त हो जावेगा । अन्त म यही कहना पड़ता है आत्मा का स्वभाव ही जैन धर्म है ।

"जय बोलो श्री महावीर स्वामी की जय"

घात्यघात्यष्टकर्माणि हत्वा याप्तगुणाष्टकान ।
अष्टमीभूमियतान् सिद्धान् साष्टाग प्रणमाम्यहम् ॥

ॐ नम श्री शान्तिनाथाय ।

जैन मित्र मण्डल द्वारा प्रकाशित ट्रेक्ट

उपासनातत्त्व ले० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार हिन्दी -)॥
मेरी भावना , , , , मुफ्त
मेरी भावना और महावीर संदेश , , ')।
समाज संगठन , ,,)॥।
हम दुखी क्यों हैं ? , , ।-)
जैन वीरों का इतिहास और हमारा पतन ले० अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय ।)
मौर्य साम्राज्य के जैन वीर ले० अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय ।≈)
जैनधर्म परमात्मा ले० ऋषभदास जी वकील मेरठ उर्दू ≈)
जैनधर्म फिलासफी ,, , , ,, -)
भगवान महावीर के जीवन की झांकी ले० रायबहादुर जुगमन्दरदास जी उर्दू)॥
ज्ञान सूर्योदय ले० बाबू सूरजभान जी वकील उर्दू -)
जैनधर्म प्रवेशिका ,, , हिंदी ≡)
सिल्के सद जवाहर ले० बाबू भोलानाथ मुख्तार उर्दू -)॥
आरजू खैरबाद , ,, ,, , मुफ्त
गुलजारे तवस्सुल ,, ,, , ,,)॥
जिनेन्द्र मत दर्पण ले० ब्र० सीतलप्रसाद जी हिंदी -)॥
मुक्ति और उसका साधन ,, ,, , ,, -)
मिथ्यात्वनिषेध , , ,, ,, -)
लार्ड महावीर ले० मि० हरिसत्य भट्टाचार्य अंग्रेजी ≡)